श्रीश्री गुरु-गौराङ्गौ जयतः ।

श्रीपद्यावली ।

माधुर्यनन्दनकाननकोकिलेन श्रीहरिकीर्तनसुधारसनिर्यासलसल्लीलास्वर्धु-
नीविहारिराजहंसेन श्रीभगवत्कृष्णचैतन्यपार्षदेन
परमरसिकभागवतकविकुलमुकुटमणिना

श्रीलरूपगोस्वामिप्रभुपादेन

प्रणीता तथा तत्समाहृता ।



("श्रीपद्यावलीप्रकाशिका" - हिन्दीभाषाटीकासहिता ।)



प्रकाशक :

संकर्षण दास ब्रह्मचारी

श्रीगोपीनाथ गौड़ीय मठ

❑ **प्रथम संस्करण**

श्री राधाष्टमी

१० सितंबर, १९५९

❑ **द्वितीय संस्करण**

ॐ विष्णुपाद श्री श्रील भक्तिप्रमोद पुरी गोस्वामी महाराज जी के वृन्दावन आयोजित प्रथम विरह महोत्सव के उपलक्ष्य में

❑ श्रीगोपीनाथ गौड़ीय मठ

❑ **मुद्रक**

रैक्मो प्रैस प्रा० लि०

नम्र निवेदन

मेरे परमाराध्य गुरुदेव ऊँ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्री श्रीमद् श्रील भक्तिप्रमोद पुरी गोस्वामी महाराज जी की विशेष कृपा एवं प्रेरणा से आज "श्रीपद्यावली" नामक ग्रन्थ का द्वित्तीय हिन्दी संस्करण प्रकाशित करते हुए मुझे अपार प्रसन्नता हो रही है।

श्री श्रील गुरुदेव एक परम पराविद्यानुरागी एवं अपने श्री गुरुपादपद्म के अन्तरंग प्रिय सेवक है। वे मेरे प्रति अनुग्रहपूर्वक श्री करकमलों में अपने इस प्रिय "श्री पद्यावली" नामक ग्रन्थ को स्वीकार करें - यही उनके श्रीचरणों में विनीत प्रार्थना है।

यह ग्रन्थ सर्वप्रथम जगद्‌गुरु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद' के अनुकम्पित श्री पाद राधव चैतन्य प्रभु जी द्वारा प्रकाशित किया गया था। तत्पश्चात् यह ग्रन्थ अनेक वर्षों तक किसी ने भी प्रकाशित नहीं किया।

श्रीश्री गोपीनाथ गौड़ीय मठ के सभापति एवं मेरे परमपूज्य सतीर्थ परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीमद् भक्ति बिबुध बौद्धायन महाराज जी ने इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित करने के लिये मुझ दीन-हीन को प्रेरणा दी, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

निश्किंचन भक्तों की सुख वृद्धि हो, इसी उद्देश्य से इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया गया है।

अकिंचनो का दास

राधेश्याम दास



श्रीश्रीमद् भक्ति प्रमोद पुरी गोस्वामी महाराज

समर्पण

ॐ विष्णुपाद
परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद् भक्ति प्रमोद
पुरी गोस्वामी महाराज जी के श्रीकरकमलों में
(प्रथम विरहमहोत्सव के उपलक्ष्य में)
एवं
श्रीपद्यावली के प्रथम हिन्दी प्रकाशक
श्रीपाद राघव चैतन्य प्रभु जी के श्री करकमलों में



श्रीपाद राघव चैतन्य दास

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः ।

प्रथम संस्करण का प्रकाशकीय निवेदन-

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुतपदकमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च
श्रीरूपं साग्रजातं सहगणरघुनाथान्वितं तं सजीवम् ।
साद्वैतं सावधूतं परिजनसहितं कृष्णचैतन्यदेवं
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगणललिताश्रीविशाखान्वितांश्च ॥

कान्तं शान्तमशेषजीवहृदयानन्दस्वरूपं परं
सर्वात्मानमनन्तमाद्यममलं विश्वाश्रयं केवलम् ।
भक्त्यानन्दरसैकविग्रहवरं भक्तैकभक्तिप्रियं
भक्तावेशधरं विभुं कमपि तं गौरं सदोपास्महे ॥

सौन्दर्ये कामकोटिः सकलजनसमाह्लादने चन्द्रकोटि-
र्वात्सल्ये मातृकोटिस्त्रिदशविटपितोऽप्यद्भुतौदार्यकोटिः ।
गाम्भीर्येऽम्भोधिकोटिर्मधुरिमणि सुधाक्षीरमाध्वीककोटि-
र्गौरो देवः स जीयात् प्रणयरसपदे दर्शिताश्चर्यकोटिः ॥

सत्काव्यसद्मसु य एव हरिप्रियेषु
शब्दार्थरत्ननिकरैस्तनुतेऽतिभव्यैः ।
शिल्पक्रियां बहुविधां कविविश्वकर्मा
रूपाभिधो रसिकचित्तहरः स जीयात् ॥

नमश्चैतन्यचन्द्राय स्वनामामृतसेविने ।
यद्रूपाश्रयणाद् यस्य भेजे भक्तिमयं जनः ।।

श्रीगुरु-गौराङ्ग-गान्धर्वा-गोविन्ददेव की अशेष विशेष और अहैतुकी कृपा से आज विश्ववासियों के समक्ष रसिक-कविकुल-चक्रवर्ती-चूड़ामणि श्रीरूप गोस्वामिप्रभुपाद कृता "श्रीपद्यावली"—"श्रीपद्यावलीप्रकाशिका" नामक हिन्दी भाषाटीका सहित-प्रगट हो रही है, यही जागतिक जीवों को परमानन्द का विषय है। यह ग्रन्थ पदे पदे सुस्वादु है।

हमारे श्रीगुरुदेव कलियुगपावन-स्वभजन-विभजन-प्रयोजनावतार-श्रीभगवत्कृष्णचैतन्यमहाप्रभु-परंपरा में नवम, श्रीगौड़ीयसंप्रदायैकसंरक्षकप्रवर, नित्यलीलाप्रविष्ट, ॐ विष्णुपाद-परमहंस-१०८-श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वतीगोस्वामिप्रभुपाद के श्रीमुखकमल से निःसृत श्रीहरिकथामृत पान करने का सौभाग्य जिनको प्राप्त हुआ है, एवं जो निरपेक्ष निःश्रेयस प्रार्थी होकर सुनम्रता और सहिष्णुता के सहित उस चैतन्यमय वाणी का अनुसरण एवं अनुभव कर चुके हैं उनके समीप "कीर्तनीयः सदा हरिः" इस श्रीचैतन्यदेव की वाणी के मूर्तविग्रहरूप में हमारे श्रीगुरुदेव प्रकट और प्रत्यक्ष थे।

श्रीहरिकथा एवं श्रीनामसंकीर्तन ही उनका जीवनरूप एवं मूल उद्देश्य था। कारण वर्तमान युग में श्रीरूप गोस्वामी के मनोभीष्टपूरण-रूप यज्ञ के वे प्रधानतम याज्ञिक थे। वे कहा करते थे कि "सब भक्तों को चाहिये कि वे श्रीरूप-रघुनाथ आदि गोस्वामिगणों की वाणी का

उत्साहपूर्वक प्रसार करें। श्रीरूपानुगगणों के पादपद्मों की धूलि बनना ही हमारी अन्तिम आकांक्षा का विषय है। सैकड़ों विपत्तियों में, सैकड़ों प्रकार के तिरस्कार में, एवं कलंकों में भी श्रीहरिभजन नहीं छोड़ना चाहिये। तृण से भी अधिक नम्र एवं वृक्ष से भी अधिक सहनशील होकर प्रतिक्षण श्रीहरिनामकीर्तन करते रहना चाहिये। हम सब सर्वतोभाव से पार्षदों सहित श्रीकृष्णचैतन्यदेव के संकीर्तनयज्ञ में सम्मिलित होने की आकांक्षा करते हैं, एवं जन्म जन्म में श्रीरूप गोस्वामिप्रभुपाद के पादपद्मों की पराग ही हमारी सर्वस्व होती रहे। कलिकाल में केवल श्रीकृष्णनामसंकीर्तन ही नितान्त आवश्यक है। श्रीहरिनाम ग्रहण के सिवाय हमारी और कोई गति भी नहीं है। श्रीरूपगोस्वामी प्रभृति महानुभावों के ग्रन्थों का प्रकाश और प्रसार ग्राम ग्राम में, नगर नगर में, देश विदेश में करके श्रीचैतन्यकीर्तन संजीवनी का संचार करते रहना चाहिये", और अत्यन्त उत्फुल्ल हृदय से कहा करते थे, "श्रीरूप गोस्वामिकृत भक्तिसाहित्य का जगत् में जितना अधिक प्रसार होगा उतना ही सर्वश्रेयस्कर होगा, एवं उससे ही मुझे विशेष सन्तोष भी होगा।" श्रीगुरुदेव की ऐसी उक्तियों को हृदय में धारण करके उनकी अहैतुकी कृपा से ही मैंने इस "श्रीपद्यावली" ग्रन्थ के प्रकाशन का साहस किया है।

मेरे हृदय में यह विचार उठता था कि श्रीपद्यावली की सुन्दर हिन्दी भाषाटीका किन रसिक विद्वान् से कराई जाय जिससे सर्व साधारण के जानने योग्य हो जाय। वृन्दावनीय विद्वानों के श्रीमुख से मैंने

सख्यरस उपासक विद्यावारिधि श्रीकृष्णानन्ददासजी महाराज के शिष्य-- महाकवि श्रीवनमालिदास शास्त्रीजी की प्रशंसा सुनी। श्रीपद्यावली पुस्तक लेकर उनके समीप उपस्थित होकर मैंने हिन्दी भाषाटीका करने के लिये शास्त्रीजी से निवेदन किया। कृपामय शास्त्रीजीने मेरे निवेदन को सहर्ष स्वीकार कर लिया। केवल पचीस दिन में ही विशाल भूमिका सहित "श्रीपद्यावलीप्रकाशिका" नामक हिन्दी भाषाटीका लिखकर मुझे समर्पण कर दी। अतः श्रीशास्त्रीजी सभी सज्जनों के धन्यवाद के पात्र हैं।

यह ग्रन्थ अचिन्त्य, अतुलनीय, असमोर्ध्व, वैष्णवदार्शनिक सिद्धान्त-मणियों का उद्घाटन करने में प्रेमलक्षणाभक्ति की मंजूषा स्वरूप है, अतः यह सब दिशाओं, सभी आचार्यों एवं सभी संप्रदायों का जीवनधन बना हुआ है, एवं वैष्णवसाहित्यरूप वाटिका में पूर्ण विकसित परमार्थिक स्वच्छ प्रसूनगुच्छ है। चयन की कुशलता के कारण यह ग्रन्थ "मधुनि लिल्युरशेषरसाः" इस न्याय से भक्ति के सभी रसों से संयुक्त होने के कारण मधुमय बना हुआ है। भक्तिरस लोलुप मधुपवृन्द इससे अनायास स्वाभिलषित वस्तु को प्राप्त कर निश्चय ही परितृप्त होंगे।

पाठकों की सुविधा के लिये श्लोकों के पूर्व में विषयसूचक शीर्षक एवं छन्दों के नाम तथा अन्त में रचयिता कवि महानुभावों के नाम भी निर्दशित कर दिये हैं। इस श्रीपद्यावली में ३० प्रकार के छन्द हैं एवं १२५ कवियों की उक्तियाँ हैं।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्रीरमणलाल जेठालाल शाह (बी० ई० सिविल), अहमदाबाद जिलान्तर्गत "दहेगाम" निवासीने आर्थिक सहायता दी है। हम इनको धन्यवाद देते हैं कि आपने इस परमपुनीत कार्य में अर्थ सहायता देकर वैष्णवजगत् की एवं श्रीराधागोविन्द की तथा उन श्रीयुगलकिशोर संवलिततनु श्रीगौराङ्गमहाप्रभु की बड़ी भारी सेवा की है। यह सेवा वैष्णवइतिहास में चिर स्मरणीय रहेगी। यह ग्रन्थ श्रीरमणलालजी अपने पूज्यपाद पितृदेव श्रीजेठालाल हेमचंद की पुण्य स्मृति में प्रकाशित करवा रहे हैं।

श्रीगोविन्द प्रसाद अग्रवाल "हीरालाल प्रिंटिंग वर्क्स" के अधिपतिने भक्तिभावपूर्वक थोड़े से दिनों में ही इस ग्रन्थ का सुष्ठुतम मुद्रणकार्य करा कर भक्तिरस पिपासुओं की पिपासा को शान्त कर दिया है, अतः ये उदारचेता सज्जन भी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

पाठकों से निवेदन है कि—हे परमार्थ पथ के प्यारे पथिको ! प्रिय पाठक एवं पाठिकाओ ! यह श्रीपद्यावली परम प्रेमपूर्ण प्रामाणिक पुस्तक है, तथा परमार्थ पथ में प्रत्येक पथिक को प्रलोभनमय पाथेय देने वाली है, जिस में प्राणप्यारे पीताम्बर श्रीकृष्णचन्द्र के प्रापक पद्य संगृहीत हैं, और वे पद्य प्रेम की परिमल प्रधान होने से पृथ्वी के प्रत्येक प्रदेश में प्रसारित हैं। इसलिये जिनको प्रेमरूप पंचम पुरुषार्थ की पिपासा लगी हो, वे इस श्रीपद्यावलीरूप प्रेमपीयूष के प्याले को परम परितृप्ति के साथ प्रतिपल प्रेमपूर्वक परिवार सहित आद्योपान्त पान कर भगवत् प्रेम के

पागल बनकर और प्रभुप्रेमामृत के पुनीत प्रवाह में पड़कर दूसरों को भी प्लावित करें ।

आददानस्तृणं दन्तैरिदं याचे पुनः पुनः ।
श्रीमद्रूपपदांभोजधूलिः स्यां जन्मजन्मनि ॥
पीयतां पीयतां नित्यं चिन्त्यतां चिन्त्यतां बुधाः ।
गाह्यतां गाह्यतां शश्वत् पद्यावलीरसामृतम् ॥

गिरिधारी कुंज,
१८, गोपीनाथ बाग,
वृन्दावन (मथुरा) उ. प्र.
श्रीराधाष्टमी,१०.९.१९५९

वैष्णवकृपाकणप्रार्थी—
राघवचैतन्यदास

श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम् ।

अनुवादकीय वक्तव्य–

श्रीचैतन्यमनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले ।
सोऽयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम् ॥

अनादिकाल से परिवर्तनशील इस संसार में आने और जाने वालों की तो कमी नहीं है, परन्तु जो जाने के पहले अपनी सुकृतियों की छाप छोड़ कर जाते हैं उन्हीं नरपुङ्गवों का आना जाना सफल है, एक बात। दूसरी यह है कि खाने, पीने, सोने, मौज उड़ाने और धन, कीर्ति, लाभ आदि की पार्थिव प्रवृत्तियाँ प्रायः सभी में न्यूनाधिक रूप में होती हैं, परन्तु पारमार्थिक निःस्वार्थ वृत्ति से युक्त होकर जो जन अपने जीवन में ऐसी कुछ सत्सेवा कर जाते हैं वे ही "कीर्तिर्यस्य स जीवति" इस न्याय से सदा अमर कहाते हैं। ऐसे ही पारमार्थिक जगत् के अन्यतम महानुभाव रसिक कविकुल चक्रचूड़ामणि श्रीरूप गोस्वामीजी हैं, जिनके द्वारा रचित एवं संगृहीत यह "श्रीपद्यावली" नामक ग्रन्थरत्न आपके करकमलों में हिन्दी भाषाटीका सहित विराजमान है। इनका प्रशस्त परिचय तो आप सुनेंगे ही, परन्तु पहले उन कलियुगपावन-स्वभजन-विभजन-प्रयोजनावतार-श्रीभगवत्कृष्णचैतन्यमहाप्रभु का भी थोड़ा सा परिचय अवश्य प्राप्त कर लें, जिनकी अहैतुकी कृपा से हुसेनशाह बादशाह के मन्त्रीपद को तृण तुल्य त्यागकर श्रीरूप गोस्वामीजी वृन्दावन पधारे।-

श्रीव्रजेन्द्रनन्दन शृङ्गाररसराजमूर्ति श्रीकृष्णचन्द्र के मन में एक दिन यह विचार आया कि (१) श्रीमती राधिकाजी के अलौकिक प्रेम की

महिमा कैसी है, और (२) श्रीमती राधिकाजी जिसका आस्वादन करती हैं वह मेरी अद्भुत मधुरिमा कैसी है, एवं (३) मेरे अनुभव से इन श्रीमती राधिकाजी को कौनसा अनिर्वचनीय सुख मिलता है ? बस इन तीनों वांछापूरण करने के लौल्य से श्रीमती राधिकाजी का भाव और कान्ति से संवलित होकर श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र श्रीगौराङ्गदेव के रूप में नवद्वीप-अन्तर्द्वीप "श्रीमायापुर" धाम (जिला नदीया, पश्चिम बङ्ग) में पण्डित श्रीजगन्नाथ मिश्र की धर्मपत्नी श्रीशचीदेवी के हृदयप्राङ्गण से शकाब्द १४०७, विक्रमाब्द १५४२, बङ्गाब्द ८९२ तारीख २३ फाल्गुन, ख्रिस्ताब्द १४८६,१८ फरवरी (जुलियन केलेण्डर), में चन्द्रग्रहण एवं शनिवारयुक्त फाल्गुन की पूर्णिमा के सायंकाल में आविर्भूत हुए। तदनन्तर पण्डितराज श्रीगङ्गादासजी से सकल शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया। तत्पश्चात् श्रीमाधवेन्द्रपुरीपाद के शिष्य श्रीईश्वरपुरीपाद से गयाक्षेत्र में दशाक्षर श्रीगोपालमन्त्र की दीक्षा ग्रहण की। तदोपरान्त भक्तमण्डली के साथ नवद्वीप में श्रीहरिनाम-संकीर्तन रसाम्बुधि में विहार किया। फिर २४ वर्ष की अवस्था में श्रीकेशव-भारतीजी से सन्यास ग्रहण कर ६ वर्ष तक दक्षिण एवं श्रीवृन्दावन की यात्रा कर लाखों जीवों को श्रीहरिनाम का संचार कर कृतार्थ किया। फिर १८ वर्ष श्रीजगन्नाथजी के नीलाचल धाम में अचल वास करके श्रीकृष्णप्रेम के प्रवाह से भारतवर्ष को आप्लावित कर दिया।

पतितपावन श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु का विशाल चरित्र तो 'श्रीचैतन्य-भागवत', 'श्रीचैतन्यचरितामृत', 'श्रीचैतन्यचरितामृतमहाकाव्य', 'श्रीचैतन्यचन्द्रोदय', प्रभृति अनेकों ग्रन्थों में सुचारुरूपेण वर्णित है। जिज्ञासु पाठक तत्तद् ग्रन्थ से ही जान सकते हैं, कारण कतिपय पृष्ठों में लिखी जाने वाली इस छोटी सी भूमिका में "गागर में सागर" कैसे समा सकता है ? अतः कृपालु पाठकवृन्द श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु विषयक

श्रीमीरा का एक पद पढ़कर श्रीरूप गोस्वामीजी का संक्षिप्त चरित्र पढ़ें।

अब तो हरि नाम लौ लागी।
सब जग को यह माखन चोरा, नाम धरयो वैरागी ॥१॥
कित छोड़ी वह मोहन मुरली, कित छोड़ी सब गोपी।
मूँड़ मुँडाइ डोरि कटि बाँधी, माथे मोहन टोपी ॥२॥
मात जसोमति माखन कारन, बाँधे जाको पाँम।
श्याम किशोर भयो नव गौरा, चैतन्य जाको नाम ॥३॥
पीताम्बर को भाव दिखावे, कटि कौपीन कसे।
गौर कृष्ण की दासी मीरा, रसना कृष्ण बसे ॥४॥

श्रीरूप गोस्वामीजी का परिचय—

वैष्णव संप्रदाय के जो शिक्षागुरु माने जाते हैं, सांसारिक स्वार्थिक कामना एवं संबंध जिनको ममता की डोरी में बहुत दिन तक नहीं बांध सका, जो संसार की लुभाने वाली अतुल धन संपत्ति को तिनके की समान त्यागकर भगवत् प्रेम में मतवाले हो श्रीवृन्दावन चले आये थे, वैराग्य, भक्ति और प्रेम के मूर्तिमान आदर्श, वैष्णवसिद्धान्ताचार्य, श्रीगौराङ्गमहाप्रभु के अन्तरङ्ग कृपापात्र, अलौकिक रसमयी कवितागुण संपन्न, जगत् प्रसिद्ध, श्रीराधागोविन्ददेव के चरणकमलों में सदा ही अपूर्व प्रेम रखने वाले श्रीरूप गोस्वामीजी को कौन भक्तिपथिक जन नहीं जानता ?

आपके पूर्वपुरुष भारद्वाजगोत्रीय यजुर्वेदी जगद्गुरु ब्राह्मणराज 'श्रीसर्वज्ञजी' कर्णाट देश के राजा थे। तिनके पुत्र श्रीअनिरुद्ध, तिनके श्रीरूपेश्वर, तिनके श्रीपद्मनाभ, तिनके श्रीमुकुन्ददेव, तिनके श्रीकुमारदेव नामक पुत्ररत्न उत्पन्न हुए। श्रीकुमारदेव का विवाह काश्यपकुलजात श्रीहरिनारायण विशारद की कन्या श्रीमती रेवतीदेवी के साथ हुआ

था । श्रीकुमारदेवजी के तीन पुत्ररत्न प्रादुर्भूत हुए । तिन में सर्वप्रथम श्रीसनातन गोस्वामी, द्वितीय श्रीरूप गोस्वामी, तृतीय पुत्र श्रीअनुपम (वल्लभ) नामक हुए । श्रीवल्लभ के पुत्रमणि श्रीजीव गोस्वामी षट्-सन्दर्भादि अनेक ग्रन्थों के प्रणेता हुए । यह सब वंश परिचय श्रीजीव गोस्वामीने श्रीमद् भागवत के दशम स्कन्ध के 'श्रीसंक्षेपवैष्णवतोषणी' नामक टीका के उपसंहार में बहुत से श्लोकों में दिया है ।

श्रीरूप गोस्वामीजी का आविर्भाव काल शकाब्द १४११, विक्रमाब्द १५४६ एवं खिस्ताब्द १४८९ में समयनिर्णायकों ने माना है । संसार में प्रकट स्थिति ७५ वर्ष, श्रीव्रजवास ५३ वर्ष, एवं २२ वर्ष पर्यन्त घर में रहना माना है । अन्तर्धान शकाब्द १४८६, विक्रमाब्द १६२१, खिस्ताब्द १५६४ में श्रावण शुक्ला द्वादशी को माना है ।

श्रीरूप–सनातन दोनों भाई जिस समय हुसेनशाह बादशाह के मन्त्रीपद को सुशोभित करते हुए रामकेलि (जिला मालदा, पश्चिम बङ्ग) में विराजमान थे, उस समय श्रीवृन्दावनधाम की ओर पहली यात्रा के प्रसङ्ग में श्रीगौराङ्गमहाप्रभुने दोनों भ्राताओं को दर्शन देकर कृतार्थ किया था । छोटे भाई श्रीअनुपम (वल्लभ) के साथ श्रीरूप गोस्वामीजी गृहत्याग के पश्चात् प्रथमबार प्रयागराज में श्रीगौराङ्गमहाप्रभुजी के वृन्दावन से प्रत्यावर्तन समय उनसे (श्रीगौराङ्गमहाप्रभु से) मिले थे । समय के प्रभाव से श्रीवृन्दावन की ही क्या अपितु व्रजभर में श्रीकृष्ण की लीला की बात लुप्त प्राय हो गई थी, हृदय में यह विचार आने पर उस लीलास्थली एवं श्रीराधाकृष्ण का समस्त रहस्य तत्त्व प्रकाशित करने के लिये, समस्त भक्ति विषयों की शिक्षा देते हुए श्रीगौराङ्गमहाप्रभुने अपने कृपामृत से श्रीरूप-सनातन दोनों भाइयों का अभिषेक किया । जिसका वर्णन श्रीकविकर्णपूरने 'श्रीचैतन्यचन्द्रोदय' में इस प्रकार किया है—

कालेन वृन्दावनकेलिवार्ता लुप्तेति तां ख्यापयितुं विशिष्य ।
कृपामृतेनाभिषिषेच देवस्तत्रैव रूपं च सनातनं च ॥
(श्रीचैतन्यचन्द्रोदये ९. ३८)

कृपामृत से अभिषिक्त होकर दोनों भाई पृथक् समय में श्रीवृन्दावन पधारे । दोनों की ही वैराग्य रागदृढ़ता, भक्तिरसरसिकता, अलौकिक विद्वत्ता, नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभावत्ता, श्रीराधाकृष्णरहस्य रस प्रकाशकता एवं प्रायशः समस्त व्रजभूमिस्थ लुप्ततीर्थोद्धारकता का वर्णना करते हुए श्रीनाभादासजी भक्तमाल में लिखते हैं कि—

संसार-स्वाद-सुख वान्त ज्यों दुहुँ रूप-सनातन त्याग दियो ।
गौंड देश बङ्गाल हुते सब ही अधिकारी ।
हय गय भवन भँडार बिभव भूभुज अनुहारी ॥
यह सुख अनित्य विचारि वास वृन्दावन कीन्हौ ।
यथा लाभ सन्तोष कुंज करवा मन दीन्हौ ॥
व्रजभूमि रहस्य राधाकृष्ण भक्ततोष उद्धार कियो ।
संसार-स्वाद-सुख वान्त ज्यों दुहुँ रूप-सनातन त्याग दियो ॥

श्रीवृन्दावन एवं व्रजभूमि के रहस्य को उस समय प्रायः कोई नहीं जानता था । दोनों भाइयोंने प्रमाण प्रमेय सहित अलौकिक दिव्य ग्रन्थों की रचना कर व्रजभूमि एवं श्रीराधाकृष्ण के रहस्य को इस प्रकार से रसिकजनों के हितार्थ प्रकाशित कर दिखाया जैसा कि श्रीशुकदेवजीने अपने श्रीमुख से श्रीमद्भागवत में गाया है । उपासना की सब रीतियाँ भी श्रीमद्भागवत के अनुसार ही वर्णन की हैं । इन्होंने जिस रससार का वर्णन किया है वह रसिक भक्तजनों को परम सुखदाई है । श्रीमन् महाप्रभुगौराङ्गदेव की आज्ञानुसार ऐसे रसमय ग्रन्थ रचे जिनके पठन-पाठन से भक्ति की सब प्रकार की धाराओं का भली प्रकार से ज्ञान हो

सकता है। इनके बनाये हुए ग्रन्थों में एक एक बात में जब मन एवं बुद्धि समा जाती है तो शरीर पुलकित हो जाता है और प्रेमोदय के कारण नेत्रों से झड़ी सी लग जाती है।

एक समय श्रीरूप गोस्वामीजी श्रीनन्दग्राम में कदम्बटेर पर भजन कर रहे थे उसी समय बड़े भाई श्रीसनातन गोस्वामीजी वृन्दावन से इनके समीप पधारे। दर्शन करते ही श्रीरूप गोस्वामीजीने अभ्युत्थान नमस्कारादि द्वारा यथोचित सत्कार किया। फिर श्रीरूप गोस्वामीजी के मन में यह विचार आया कि मेरे बड़े भाई मेरी कुटिया पर पधारे हैं, आज इनका सत्कार कौनसी भोजन सामग्री से करू ? यदि किसी व्रजवासी के घर से थोड़ा सा दूध मिल जाय तो खीर बनाकर भोग लगाकर प्रसाद पवा देता।

बस इतना विचार आते ही भक्तवाञ्छाकल्पद्रुमस्वरूपा श्रीमती राधिकाजी एक साधारण गोपबालिका के रूप में दूध, चावल आदि सब सामग्री लेकर तत्काल उपस्थित होकर बोलीं—बाबा ! दण्डवत्। हमारी गैया को ब्याये आज दश बारह दिन हो गये हैं, अतः मेरी मैयाने कहा कि—लाली ! ले ये दूध आदि सामग्री ले जा और कदम्बटेर पर जो बाबा रहते हैं उनको पहले दे आ। वे जब अपने ठाकुरजी को भोग लगा लेंगे तभी हम गैया के दूध को अपने उपयोग में लेंगे। मैयाने यह भी कही है कि—बाबा खीर बनाने में आलस्य करें अथवा बनाना न जानते हों तो तू बनाकर चली आना।

श्रीप्रियाजी के मुखकमल के मधुर वचन सुनकर श्रीरूप गोस्वामीजी बोले—अच्छा लाली ! तू ही बना दे। आरणे मैं बीनकर ला देता हूँ। बस तत्काल श्रीमतीजीने सुन्दर खीर बनाई और "दण्डवत्" कह कर चलीं गई।

तत्पश्चात् श्रीरूप गोस्वामीजीने श्रीहरि को अर्पण करके श्रीसनातन गोस्वामीजी को परोस दी। श्रीसनातन गोस्वामी जो पाने लगे तब तो ग्रास ग्रास में अलौकिक आनन्दवर्धक नशा सा चढ़ने लग गया। चढ़े भी क्यों नहीं? साक्षात् श्रीलाडिली प्रियाजी जिस पदार्थ को बनावें, फिर श्रीहरि प्रेम से पावें, फिर वह पदार्थ पाने वाले भाग्यशाली को अलौकिक आनन्द क्यों न आयेगा? प्रसाद पाते ही पाते श्रीसनातन गोस्वामीजी बोले भाई रूप! यह नैवेद्य कौनने कैसे बनाया है? जो श्रीहरिने बड़े प्रेम से आरोगा है, जो मुझे भी पाते समय अलौकिक चमत्कार दिखा रहा है। तब श्रीरूप गोस्वामीजीने संपूर्ण चरित्र कह सुनाया। तब श्रीसनातन गोस्वामीजी बोले—भाई रूप! देखो फिर कभी भी ऐसा विचार मन में नहीं लाना। यह बात दृढ़रूप से हृदय में धारण कर लो। देखो आज अपने इष्टदेवता को तुम्हारी वाञ्छापूर्ति के लिये कितना कष्ट सहन करना पड़ा है। यह बात सुनते ही श्रीरूप गोस्वामीजी के नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की धारा बह चली।

श्रीरूप गोस्वामीजी का श्रीभगवत् पादपद्मों में अलौकिक प्रेम था। एक दिन श्रीराधाकृष्ण के नाम-रूप-गुणादिकों का संकीर्तन हो रहा था। हरिगुण गान सुनकर संपूर्ण सभा सात्त्विक भावों के उदय के कारण विरहाकुल एवं मूर्छित सी हो गई थी, परन्तु आप तो स्वयं बड़े धीर गंभीर भाव से खड़े रहे और उस समय अपने शरीर की भी सुध-बुध नहीं थी, एवं ऐसी बात प्रगट कर दिखाई कि जो भावज्ञ महानुभावों की बुद्धि में भी नहीं आ सकती थी।

गोस्वामी श्रीकविकर्णपूरजीने पीछे से आकर देखा कि श्रीरूप गोस्वामीजी धीरतापूर्वक खड़े हुए हैं और संपूर्ण सभा व्याकुल हो रही है। श्रीकर्णपूरजी तनिक श्रीरूप गोस्वामीजी के समीप जो खड़े हुए उस समय श्रीरूप गोस्वामीजी का श्वास शरीर में लगा तब उनके शरीर में

ऐसे चिह्न हो गये कि जैसे अग्नि लगने से हो जाते हैं। तब श्रीकवि-कर्णपूरजी चकित होकर कहने लगे कि यह प्रेम की रीति तो नवीन ही दीखती है, अतः इसका कथन कौन कर सकता है ?

इस प्रसङ्ग का तात्पर्य यह है कि एक हाथी अपने दाँतों के झकोरे से छोटीमोटी सरोवर को तो छलछला देता है, अर्थात् मर्यादा से बाहर कर देता है, परन्तु वही हाथी जब महासमुद्र में गोता लगाता है तो स्वयं ही डूब जाता है। इसी प्रकार प्रेमरूपी हाथी साधारण भक्तों के हृदयसरोवर को तो उथलपुथल कर देता है, परन्तु श्रीरूप गोस्वामीजी जैसे महापुरुषों के हृदयरूप महासमुद्र में प्रेमरूपी हाथी उथलपुथल न मचाकर शान्त भाव से निमग्न हो जाता है। महापुरुषों की कृपा बिना इस स्थिति का समझना भी कठिन है, अतः कहा है कि—

हृदय सरोवर छल छल हि, दन्त गयन्द झकोर।
महासमुद्रहिं परै जब, पावत ओर न छोर॥
कहुँ बिन्दु कहुँ बिन्दु द्वै, कहुँ चुल्लू भर जान।
मूल सिन्धु रस रसिकता, रूप सनातन मान॥

अर्थात् अश्रु कहाँ से निकले ? शरीर तो प्राणप्यारे के विरह में भट्टी के समान दहक रहा है। सब रक्त भी प्राय सूख गया है। ठठरी मात्र बाकी है।

एक दिन स्वप्न में श्रीगोविन्ददेवजी श्रीरूप गोस्वामीजी से बोले कि मैं 'गोमाटिला' खरिक (गोशाला) में रहता हूँ। एक गैया नित्यप्रति अपनी दुग्धधारा से पूर्वाह्न में मेरा पोषण करती है। उस दुग्ध के चिह्न को देखकर तुम वहाँ से मुझे निकाल लो। बस शयन से उठते ही श्रीगोस्वामीजीने पूर्वाह्न में जाकर देखा तो गैया उसी टीला पर खड़ी होकर दुग्धधारा बहा रही है। गैया के चले जाने के बाद श्रीरूप गोस्वामीजीने श्रीगोविन्ददेवजी के श्रीविग्रह को भूमि से निकाला।

अनुपम श्रीमूर्ति को देखकर श्रीगोस्वामीजी थकित चकित से रह गये। उस शोभा का कौन ठीक ठीक वर्णन कर सकता है ? फिर जयपुर नरेश श्रीमानसिंहजी द्वारा श्रीगोविन्ददेवजी के मन्दिर का अद्भुत निर्माण हुआ। मन्दिर में विराजमान श्रीगोविन्ददेवजी का दर्शन कर श्रीरूप गोस्वामीजी स्वयं चकित होकर कहते हैं—

स्मेरां भङ्गीत्रयपरिचितां साचिविस्तीर्णदृष्टिं
वंशीन्यस्ताधरकिशलयामुज्ज्वलां चन्द्रकेण।
गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे
मा प्रेक्षिष्ठास्तव यदि सखे ! बन्धुसंगेऽस्ति रङ्गः॥

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ १. २. २३९)

हे सखे ! यदि बन्धु बान्धवों के सङ्ग में तुम्हारी आसक्ति है और उसमें तुम्हें कुछ लोभ-लाभ है तब तो केशीघाट के निकटवर्ती ईषद् हास्ययुक्त, त्रिवक्रताशाली, तिरछी मनोहर विशाल दृष्टिवाली, जिनके अधर किशलय पर वंशी विराजमान है, और मयूरपंख द्वारा जो उत्कृष्ट शोभायुक्त है, ऐसी श्रीगोविन्ददेव नाम वाली श्रीहरिमूर्ति का दर्शन नहीं करना। निषेध का तात्पर्य यह है कि यदि एकबार भी श्रीगोविन्ददेवजी का दर्शन कर लोगे तो घर-गृहस्थी के कामकाज के तुम नहीं रहोगे। श्रीगोविन्ददेवजी के सम्बन्ध से अतिरिक्त सब जगह से वैराग्य हो जायगा, और यदि सांसारिक झंझट से छूटना चाहते हो तो शीघ्र ही दर्शन करो।

श्रीरूप गोस्वामीजीने स्वरचित श्रीस्तवमालान्तर्गत 'चाटुपुष्पाञ्जलि' स्तोत्र में श्रीमती राधिकाजी की वेणी की उपमा "मणि-स्तबक-विद्योति-वेणीव्यालाङ्गना-फणाम्" इस पद से नागिनी से दे दी। श्रीसनातन गोस्वामीजीने जब यह उपमा पढ़ी तो हृदय में यह खेद हुआ कि "जो चित्रलिखे सर्प की आकृति को देखकर भी भयभीत होती है ऐसी परम

कोमलचित्ता श्रीजी की वेणी की उपमा विषभरे कठोर जन्तु से समीचीन प्रतीत नहीं होती"। मन ही मन इस प्रकार कहते रहे, किन्तु श्रीरूप गोस्वामी के प्रति उसको प्रकट न करके विषण्ण चित्त से अपने स्थान को लौट आए। लौट तो आये तो भी समय समय पर वेणी की बात चित्तक्षेत्र में जागरुक होकर श्रीसनातन गोस्वामीजी को यन्त्रणा देने लगी। एक दिन श्रीसनातन गोस्वामीपाद श्रीराधाकुण्ड दर्शनोपरान्त उसके अग्निकोण में स्थित मदनान्दोलन नामक नित्यविलास कुञ्ज के दर्शनार्थ गमन कर रहे थे कि उस समय श्रीरूप गोस्वामीपाद लिखित फणिनी से वेणी की उपमा का मेल कराने के लिये श्रीमती राधिकाजी एक आम्र वृक्ष की श्याम डाल में झूले पर झूलती दीख पड़ीं। थोड़ी दूर में ही श्रीसनातन गोस्वामीजीने देखा कि श्रीवृषभानुनन्दिनी की शिर की वेणी पीठ तक लम्बी नागिनी के प्रतिरूप में हुई है। अहो ! कैसा आश्चर्य ? पाठक देखें कि फणिनी देखकर भय की उत्पत्ति हो गई। वेणी-फणिनी के दर्शन से श्रीसनातन गोस्वामीजी के हृदय प्रेम से पूर्ण होकर अश्रु, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, पुलकादि उदय होने के कारण भूमि पर लोटने लगे। क्षण में ही श्रीसनातन गोस्वामीजी चेतना लाभ करके श्रीरूप गोस्वामीजी के कवित्व की भारी प्रशंसा करने लगे।

श्रीरूप गोस्वामीजी के नाम की सर्वाङ्गीण सार्थकता का वर्णन करते हुए श्रीकविकर्णपूर गोस्वामीजीने "श्रीचैतन्यचन्द्रोदय" में और भाषाकवि श्रीप्रियादासजीने भक्तमाल की टीका में कितना सुन्दर चित्रण किया है—

प्रियस्वरूपे दयितस्वरूपे प्रेमस्वरूपे सहजाभिरूपे।
निजानुरूपे प्रभुरेक रूपे ततान रूपे स्वविलासरूपे ।।

(श्रीचैतन्यचन्द्रोदये ९. ३०)

भक्तिरसरूप राधाकृष्णरसरूप
पदरचनाके रूप याते रूप नाम भाखिये ।
त्यागरूप भागरूप सेवासुखसाजरूप
रूप ही की भावना औ रूपसुख चाखिये ।।
कृपारूप भावरूप रसिकप्रभावरूप
गात जातरूप लखि मन अभिलाखिये ।
महाप्रभु कृष्णचैतन्यजू के हृदैरूप
श्रीगुसाईं रूप सदा नैनन में राखिये ।।

मैं भी स्वरचित 'सख्यसुधाकर' नामक ग्रन्थ के दो श्लोक उद्धृत कर श्रद्धाञ्जलि सर्मपित करता हुआ श्रीरूप गोस्वामीजी से प्रार्थना करता हूँ—

सुराचार्यं यं वै प्रणिगदति यत्काव्यरचना
तथा राधाकृष्णोज्ज्वलरसपरीपाक इति यम् ।
प्रशंसन्तः सन्तः क्षणमपि विरामं न दधते
स रूपो गोस्वामी किरतु मयि प्रेमामृतकणम् ।।
वैशिष्ट्यं बहु किं वदाम इह भो श्रीरूपगोस्वामिनो
वैराग्यं विभवे त्रिविष्टपभवे भक्तिर्यशोदाभवे ।
जिह्वामञ्चमुरीकरोति सततं विद्याऽनवद्या नटी
प्रेमांभोधिसमुद्भृतोज्ज्वलमणेः किं किं न लोकोत्तरम् ।।

अर्थात् जिनकी काव्य रचना ही जिनको बृहस्पति बतला रही है, तथा सन्तजन जिनकी 'श्रीराधाकृष्ण के उज्ज्वलरस के परिपाक स्वरूप ही श्रीरूप गोस्वामी हैं', इस प्रकार कहकर प्रतिक्षण प्रशंसा करते रहते हैं, वही श्रीरूप गोस्वामी मुझ दीनहीन पर प्रेमामृत कण की वृष्टि करें । प्रिय पाठको ! श्रीरूप गोस्वामीजी की विशिष्टता बहुत करके क्या कहें ? जिनका वैराग्य ब्रह्मलोक पर्यन्त वैभवों से था, श्रीयशोदानन्दन में जिनकी अविरल भक्ति थी एवं जिनकी जिह्वारूपी

रङ्गमञ्च पर चतुर्दश विद्यारूप सुन्दर नटी सदैव नृत्य करती रहती थी, और जिन्होंने प्रेमरूपी समुद्र से उज्ज्वलनीलमणि निकाली उनका कौनसा कार्य लोकोत्तर नहीं है ? अर्थात् जिन्होंने 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु', 'श्रीउज्ज्वलनीलमणि', 'श्रीसंक्षेपभागवतामृत' आदि बहुत से भक्तिरस के लोकोत्तर ग्रन्थ बनाये अतः उनके सभी कार्य लोकोत्तर हैं।

श्रीरूप गोस्वामीकृत ग्रन्थावली—

१। श्रीहंसदूतकाव्यम्
२। श्रीउद्धवसन्देशः
३। श्रीकृष्णजन्मतिथिविधिः
४। श्रीबृहद्गणोद्देशदीपिका
५। श्रीलघुगणोद्देशदीपिका
६। श्रीस्तवमाला
७। श्रीविदग्धमाधवनाटकम्
८। श्रीललितमाधवनाटकम्
९। श्रीदानकेलिकौमुदी
१०। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः
११। श्रीउज्ज्वलनीलमणिः
१२। श्रीप्रयुक्ताख्यचन्द्रिका
१३। श्रीमथुरामाहात्म्यम्
१४। श्रीपद्यावली
१५। श्रीनाटकचन्द्रिका
१६। श्रीसंक्षेपभागवतामृतम्
१७। श्रीसामान्यबिरुदावलीलक्षणम्
१८। श्रीउपदेशामृतम्

मेरी तो उनके चरणों में यही भावना है—

आददानस्तृणं दन्तैरिदं याचे पुनः पुनः।
श्रीमद्रूपपदांभोजधूलिः स्यां जन्मजन्मनि ।।

"श्रीपद्यावलीप्रकाशिका" निर्माण प्रयोजन—

एक दिन मेरे समीप श्रीगौडीयसंप्रदायैक संरक्षकप्रवर नित्यलीला प्रविष्ट श्रीरूपानुगवर जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद परमहंस १०८श्रीश्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद के शिष्य—श्रीराघव चैतन्य दासजी महाराज पधारे और बङ्गलिपि में छपी हुई श्रीपद्यावली को समर्पण करते हुए मुझ से निवेदन किया कि—"शास्त्रीजी महाराज !

यह "श्रीपद्यावली" ग्रन्थ भक्ति के सभी विषयों का सरस पोषक है, परन्तु हिन्दी भाषाटीका के अभाव में बंगभाषा से अनभिज्ञ सर्व साधारणजनों को गम्य नहीं है, अतः यदि आप कृपया इसकी हिन्दी भाषाटीका करदें तो यह ग्रन्थ सर्व साधारण के जानने योग्य हो जायगा। संस्कृत और बंगभाषा से अनभिज्ञ ग्रामीण नरनारी भी सरलता से भक्तितत्त्व को जान सकेंगे"।

मैंने उनके परम सुन्दर प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया। विक्रम संवत् २०१५ फाल्गुनी पूर्णिमा श्रीगौराङ्गजयन्ती के दिन से भाषाटीका लिखना प्रारंभ कर दिया। श्रीहरि कृपा से विक्रम संवत् २०१६ की श्रीरामनवमी के दिन टीका लिखकर तैयार हो गई। टीका कैसी हुई उसकी सरसता नीरसता को तो भक्तिसाहित्यवेत्ता रसिकजन ही जान सकेंगे। यह सटीक श्रीपद्यावली भक्तिरस लोलुपों की तो वस्तु है ही, परन्तु ईश्वरनिष्ठ विद्वान मात्र के लिये भी परमोपयोगी है।

विद्वज्जनों से मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि यदि इस ग्रन्थ में मनुष्य-मात्रसुलभ प्रमाद दोषवश कहीं त्रुटियाँ भी रह गईं हों तो सख्य संबंध मे अपना ही ग्रन्थ समझकर सुधार लें, क्यों कि मित्र की त्रुटियों का मित्र ही समाधान किया करते हैं। तथाहि—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवेदेव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधाति साधवः॥

श्रीकृष्णानन्दाश्रम
रेल्वे फाटक नं० १ के पास
वृन्दावन (मथुरा) उ. प्र.
ता० ३. ५. १९५९

इति निवेदयति विनीतो-
वनमालिदासशास्त्री

श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवा-
स्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः ।
सौख्यं चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभा-
त्तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः ॥

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः ।

श्रीपद्यावल्या विषयसूची ।

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम् ।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः ॥

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः ।

श्रीपद्यावली ।

वसन्ततिलकम् ।

पद्यावली विरचिता रसिकैर्मुकुन्द-
सम्बन्ध-बन्धुर-पदा प्रमदोर्मिसिन्धुः ।
रम्या समस्ततमसां दमनी क्रमेण
संगृह्यते कृतिकदम्बक-कौतुकाय ॥ १ ॥

ग्रन्थ-प्रारम्भे मंगलाचरणम् ।

अनुष्टुभ् ।

नमो नलिननेत्राय वेणुवाद्यविनोदिने ।
राधाधर-सुधापान-शालिने वनमालिने ॥ २ ॥

कस्यचित् ।

श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम् ।

भाषाटीका-निर्माण-प्रारम्भ-समयः-वि० सं० २०१५ श्रीगौराङ्गजयन्ती

महाकविश्रीवनमालिदासशास्त्रिकृता

पद्यावली-प्रकाशिका ।

श्रीमन्मध्वाचार्यवर्यं प्रणम्य
नित्यानन्दं रामकृष्णौ सखायौ ।
श्रीगौराङ्गं रूपगोस्वामिनं च
गोलोकस्थान् स्वान् गुरून् भक्तिपूर्वम् ।। १ ।।

बाणेन्दुशून्यनयनैश्च मिते हि वर्षे
श्रीविक्रमार्कनृपतेरपि फाल्गुनान्ते ।
पद्यावलीं सकलवेद्यतरां विधातुं
टीकामिमां वितनुते वनमालिदासः ।। २ ।।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

भक्तिप्रह्व-विलोकन-प्रणयिनी नीलोत्पल-स्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये ।
लावण्यैकमहानिधी रसिकतां राधादृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः ॥३॥

श्रीसारङ्गस्य ।

श्रीयुक्तवृन्दारकवृन्दमहेन्द्र–राधामाधवपदारविन्दनिमग्नमानस–भक्त–सन्दोहानन्दक परमरसिकवर कविकुलमुकुटमणि श्रीरूपगोस्वामीजी कहते हैं कि—श्रीहरि के सम्बन्ध से परम मनोहर पदों से युक्त,अतएव आनन्द-तरङ्गों की समुद्रस्वरूपा एवं समस्त अज्ञान विनाशकारिणी परम-रमणीया जो पद्यावली है, वह भक्तिरसिक भक्तगणों के द्वारा निर्मित हुई है, अर्थात् इस पद्यावली नामक ग्रन्थ में जो श्लोक हैं "वे अनेक रसिक-शिरोमणि भक्तों के बनाये हुये हैं", मैं उनका संग्रह परमार्थकुशल सज्जनों के हर्ष के लिये करता हूँ ॥ १ ॥

ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण यथा—

जिनके दोनों नेत्र विकसित कमल के सदृश हैं और जो भक्तों के आनन्द के हेतु वेणुवाद्य क्रीड़ा में तत्पर हैं, एवं जो श्रीराधिकाजी के अधरामृत पान से सुशोभित हैं, ऐसे श्रीवनमाली भगवान् के लिये हमारा बारंबार नमस्कार है ॥ २ ॥

भक्तों के प्रति आशीर्वादात्मक श्लोक का अर्थ, यथा—हे प्रिय भक्तगण ! श्रीकृष्ण के वे नेत्रयुगल अथवा श्रीविग्रह तुम्हारे अनादि काल के जन्ममरणरूप सांसारिक दुःख का शमन कर दें, जो कि भक्ति के कारण से नम्रीभूत सज्जनों के प्रति कृपा दृष्टि करने में स्नेहयुक्त हैं, और जो नीलकमल के मान का मर्दन करने वाले हैं, और समाधिनिरत जनोंने जिनको अपने हित की प्राप्ति के लिये ध्येय स्थान बना रक्खा है,

शार्दूलविक्रीडितम् ।

ये गोवर्धनमूलकर्दमरसव्यादष्टबर्हाङ्गदा
ये वृन्दावनकुक्षिषु व्रजवधू-नीलोपधानानि च ।
ये चाभ्यङ्गसुगन्धयः कुवलयापीडस्य दानाम्भसा
ते वो मङ्गलमादिशन्तु सततं कंसद्विषो बाहवः ॥४॥

श्रीशुभाङ्कस्य

स्रग्धरा ।

सायं व्यावर्तमानाखिल-सुरभिकुलाह्वान-संकेतनामा-
न्याभीरीवृन्दचेतोहठहरण-कला-सिद्धमंत्राक्षराणि ।
सौभाग्यं वः समन्ताद्दधतु मधुभिदः केलिगोपालमूर्तेः
सानन्दाकृष्ट-वृन्दावन-रसिकमृगश्रेणयो वेणुनादाः ॥५॥

श्रीहरस्य ।

और सौन्दर्य के जो एकमात्र परमाश्रय हैं, एवं जो श्रीराधिकाजी के दोनों नेत्रों की रसिकता का विस्तार कर रहे हैं ॥ ३ ॥

श्रीशुभाङ्कजी कहते हैं कि—हे प्रिय भक्तो ! श्रीकृष्णचन्द्र के वे श्रीहस्तकमल आपका मङ्गल विधान करें, जिनके कि मयूरपिच्छ एवं सुवर्ण निर्मित बाजूबन्द श्रीगोवर्धन पर्वत के कर्दम रस से लिप्त हैं, और जो श्रीवृन्दावन की निकुंजों में परमरमणी गोपियों के नील वर्ण के तकिया स्वरूप हैं, एवं जो कुवलयापीड़ हाथी के मद जल के सम्पर्क से सुगन्धि युक्त हैं ॥ ४ ॥

श्रीहर नामक कवि कहते हैं—हे प्रिय भक्तजनो ! क्रीड़ापरायण गोपाल मूर्ति श्रीकृष्ण की वे वंशी ध्वनियाँ सर्वतोभावेन आपका सौभाग्य वर्धन करें—जो कि सायंकाल में गैयाओं को लौटाने के लिये संकेतित नाम स्वरूप हैं, और जो समस्त गोपियों के चित्त चुराने के लिये सिद्धमन्त्राक्षर स्वरूप हैं, एवं जिन ध्वनियों के द्वारा वृन्दावन के समस्त रसज्ञ मृगगण भी परमानन्द से आकृष्ट हो जाते थे ॥ ५ ॥

अथ श्रीकृष्णस्य महिमा ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

अम्भोधिः स्थलतां स्थलं जलधितां धूलीलवः शैलतां
शैलो मृत्कणतां तृणं कुलिशतां वज्रं तृणक्षीणताम् ।
वह्निः शीतलतां हिमं दहनतामायाति यस्येच्छया
लीला-दुर्ललिताद्भुत-व्यसनिने कृष्णाय तस्मै नमः ॥६॥

कस्यचित् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

वात्सल्यादभयप्रदानसमयादार्तार्तिनिर्वापणा-
दौदार्यादघशोषणादगणित-श्रेयःपदप्रापणात् ।
सेव्यः श्रीपतिरेव सर्वजगतामेते यतः साक्षिणः
प्रह्लादश्च विभीषणश्च करिराट् पाञ्चाल्यहल्या ध्रुवः ॥७॥

कस्यचित् ।

अथ श्रीकृष्ण महिमा—

कोई भक्त कहता है कि—जिनकी इच्छा शक्ति से समुद्र स्थल और स्थल समुद्र बन जाता है, एवं धूलिकण पर्वत और पर्वत धूलिकण, तृण वज्र और वज्र तृण से भी बलहीन, अग्नि शीतल एवं परम शीतल हिम भी अग्नि भाव को प्राप्त हो जाता है, अतएव जिनकी लीलाशक्ति दुर्ज्ञेय है, एवंभूत अचिन्त्य गुणगण महार्णवस्वरूप सर्वथा अद्भुत श्रीकृष्ण के लिये हमारा कोटिशः प्रणाम है ॥ ६ ॥

कोई कवि कहता है कि—(१) वात्सल्य, (२) अभय प्रदान की प्रतिज्ञा, (३) पीड़ित व्यक्ति को पीड़ा से छुड़ाना, (४) उदारता, (५) पापी के अशेष पापों का नाश कर देना, एवं (६) स्वशरणागत को अगणित मङ्गलदायी पदों को प्राप्त करा देना, इन पूर्वोक्त छै हेतुओं के

कारण श्रीपति भगवान् ही एकमात्र सम्पूर्ण जगत् के आराध्य हैं, इसमें किञ्चित् भी संशय नहीं है। कारण कि पूर्वोक्त छः हेतुओं की सार्थकता के साक्षी क्रमशः श्रीप्रह्लाद, विभीषण, गजराज, द्रौपदी, अहल्या और ध्रुवजी हैं। अर्थात् वात्सल्य भाव से ही दुष्ट प्रवर हिरण्यकशिपु से प्रह्लादजी को बचाया। और जो जन मेरी शरण में आकर एक बार भी इस भाँति पुकारता है कि—हे शरणागतवत्सल प्रभो! मैं आपका हूँ, मेरी सर्वतोभावेन रक्षा कीजिये, ऐसे जनको मैं प्राणी मात्र से भय-रहित कर देता हूँ। विभीषण के सामने ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए ही तो श्रीरामजी ने दुर्दान्त रावण के दुर्व्यवहार से विभीषण को बचाया। और ग्राह से पीड़ित गजेन्द्र की आर्तवाणी को सुनकर तुरन्त ही तो श्रीहरि ने गजराज की रक्षा की। एवं कौरवों की भरी सभा के बीच "हे द्वारिका-नाथ! दुष्ट दुःशासन से मेरी रक्षा कीजिये" इस प्रकार की द्रौपदी की कातरवाणी सुनकर परम उदारता के कारण वस्त्ररूप धारण करके दयालु श्रीकृष्णचन्द्र ने द्रौपदी की रक्षा की। और दर्शन मात्र से ही सकल पापापहारी श्रीराघवेन्द्र ने श्रीगौतम शापवशात् पाषाणरूप बनी एकान्त वन में अदृश्य रूपेण पड़ी हुई अहल्या को अपने दर्शन मात्र से ही तो अशेष पापों से मुक्त कर दिया। और विमाता के वाणीरूप बाणों से व्यथित एवं श्रीनारदजी के उपदेश से श्रीमथुराजी के मधुवन में कठोर तपपरायण श्रीध्रुवजी को अगणित कल्याणमय अविनश्वर ध्रुवपद को देकर अनन्तकाल व्यापिनी उनकी कीर्ति कौमुदी का प्रसार श्रीकृष्ण-चन्द्र ने ही तो किया। भक्तिरस जिज्ञासुओं को यदि इन सब के विशाल चरित्र के जानने की अभिलाषा हो तो श्रीमद्भागवत एवं श्रीवाल्मीकीय रामायण से अथवा तत्तद् रहस्यज्ञ सज्जनों से जान सकते हैं॥ ७॥

अथ भजन-माहात्म्यम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत् सुदाम्नो धनम् ?
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ॥८॥

श्रीदाक्षिणात्यस्य ।

अथ भजन-माहात्म्य—

श्रीदाक्षिणात्य कविराज कहते हैं कि —भक्तिप्रिय श्रीमाधव केवल विशुद्ध भक्ति से ही शरणागत जन पर प्रसन्न हो जाते हैं, भक्ति रहित गुणों से नहीं। यदि केवल गुणों से ही प्रसन्न होते तो व्याध का कौनसा बड़ा भारी अच्छा आचरण था- वह तो जन्मभर निरापराध प्राणियों की हत्या करते करते वृद्ध हो गया था। श्रीमहाभारत में एक धर्मव्याध की कथा है। वह अपने माता-पिता को ही ईश्वर भाव से ईश्वर की तरह पूजता था और मांस बेचना आदि अपना जातिधर्म भी निर्वाहित करता था। जिसके उपदेश से स्वतपोभिमानी कौशिक नामक ब्राह्मण को भी माता-पिता की सेवारूप धर्म का ज्ञान हुआ। प्रभुने इसके सच्चे प्रेम को जानकर सद्गति प्रदान की। उसकी कथा महाभारत में विस्तार से है। और यदि अवस्था से ही प्रभु प्रसन्न होते हों तो ध्रुवजी तो पाँच वर्ष के ही थे। एवं गजराज कौनसे बड़े भारी विद्वान् थे। और यदि रूप पर ही प्रभु रीझते हों तो कुब्जा कौनसी परम सुन्दरी थी, भाव से प्रभुने उसको भी स्वीकार किया। यदि धन से ही भगवान् प्रसन्न होते हों तो बेचारे उस परम दरिद्र सुदामा का तो ठिकाना ही न लगता। यदि उच्चकुल में जन्म लेने मात्र से हरि प्रसन्न होते तो विदुरजी कहाँ जाते।

मालिनी ।

अनुचितमुचितं वा कर्म कोऽयं विभागो
भगवति परमास्तां भक्तियोगो द्रढीयान् ।
किरति विषमहीन्द्रः सान्द्रपीयूषमिन्दु-
र्द्वयमपि स महेशो निर्विशेषं बिभर्ति ॥९॥

श्रीविष्णुपुरीपादानाम् ।

पुष्पिताग्रा ।

यदि मधुमथन ! त्वदंघ्रिसेवां
हृदि विदधाति जहाति वा विवेकी ।
तदखिलमपि दुष्कृतं त्रिलोके
कृतमकृतं न-कृतं कृतं च सर्वम् ॥१०॥ तेषामेव ।

और यदि पुरुषार्थ से ही प्रभु प्राप्त होते तो अपने पुत्र कंस के कारागार में पड़े हुये पुरुषार्थहीन उग्रसेनजी की क्या दशा होती। प्रभुने उनकी आन्तरिक प्रेमलक्षणा भक्ति को देखकर कंस को मारकर कारावास के दुःख से मुक्त कर चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त कर दिया। स्वयं मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित हुए। यही प्रभु की भक्तवात्सल्यता है ॥ ८ ॥

श्रीविष्णुपुरीजी कहते हैं कि—मेरे प्रारब्धवशात् मुझसे उचित कर्म (नित्य नैमित्तिकादि) अथवा अनुचित कर्म (शास्त्रनिषिद्ध अभक्ष्य भक्षणादि) भी यदि अनासक्ति भाव से बन गये हों तो उनकी एवं उनके द्वारा प्राप्तव्य फल की भी मुझे परवाह नहीं, परन्तु मेरा अनुराग तो श्रीव्रजराजकुमार में ही दृढ़ हो जाय। कारण कि सर्पराज तो केवल विष को ही उगलता है, और चन्द्रमा केवल गाढ़े अमृत की ही वृष्टि करता है, किन्तु वैष्णव-चक्र-चूड़ामणि कृपालु शंकरजी तो दोनों को ही निर्विशेष भाव से धारण करते हैं ॥ ९ ॥

हे मधुसूदन ! कार्याकार्य विचारशील जन अपने हृदय में निष्काम भाव से यदि आपके चारु चरणारविन्दों की सेवा करता है तो आपकी

शार्दूलविक्रीडितम् ।

काषायान्न च भोजनादिनियमान्नो वा वने वासतो
व्याख्यानादथ वा मुनिव्रतभराच्चित्तोद्भवः क्षीयते ।
किंतु स्फीतकलिन्दशैलतनयातीरेषु विक्रीडतो
गोविन्दस्य पदारविन्दभजनारम्भस्य लेशादपि ॥११॥

कस्यचित् ।

मालिनी ।

अलमलमियमेव प्राणिनां पातकानां
निरसन-विषये या कृष्ण कृष्णेति वाणी ।
यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा
विलुठति चरणाब्जे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः ॥१२॥

श्रीसर्वज्ञस्य ।

मानसी सेवा के प्रताप से तीनों लोकों में किये हुए भी सम्पूर्ण पाप उसके द्वारा न किये के बराबर हैं। और यदि अज्ञानी जन आपकी सेवा पूजा को त्यागकर केवल सकाम एवं निषिद्ध कर्मों में ही लगा रहता है तो उसके द्वारा न किये हुए भी तीनों लोकों के समस्त पाप उसने कर लिये। अर्थात् भगवद्विमुखता के कारण तीनों लोकों के पाप का फल भोग उसे करना पड़ेगा ।।१०।।

और इसी लिये किसी महापुरुष ने कहा है कि—केवल काषाय वस्त्र धारण कर लेने से, अथवा परिमित सात्त्विक भोजनादिक का नियम धारण करने से, किंवा अकेले ही एकान्त वन में वास करने से, और विशिष्ट प्रभावशाली व्याख्यान मात्र से, अथवा मौनव्रत स्वीकार करने से, किंवा सर्वतीर्थ यात्रा मात्र से ही दुर्दान्त वासना वासित कामदेव का क्षय नहीं होता है, किन्तु स्वच्छ एवं विशाल श्रीयमुनाजी के तीरों पर गोप गोपियों सहित क्रीड़ापरायण श्रीगोविन्ददेव के चरणारविन्द के भजनारम्भ के लेश मात्र से ही उसका वासनाओं सहित समूल नाश हो जाता है ।।११।।

अथ प्रेम्णः सौभाग्यम् ।

वसन्ततिलकम् ।

नानोपचारकृतपूजनमार्तबन्धोः
प्रेम्णैव भक्तहृदयं सुखविद्रुतं स्यात् ।
यावत् क्षुदस्ति जठरे जरठा पिपासा
तावत् सुखाय भवतो ननु भक्ष्यपेये ॥१३॥

श्रीरामानन्दरायस्य ।

अतएव श्रीसर्वज्ञ नामक कवि ने कहा है कि---हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! यह सम्बोधनरूप वाणी ही प्राणी मात्र के सम्पूर्ण पातकपुञ्जों का नाश करने में समर्थ है । और यदि मुक्तिदाता श्रीमुकुन्दभगवान् के श्रीचरणों में सान्द्रानन्द प्रदायिनी प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रादुर्भाव हो गया हो, तब तो ऐसे भक्तराज के चरणों में "मुझको स्वीकार करो, मुझको स्वीकार करो" इस प्रकार पुकारती हुई मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मी लोट-पोट हो जाती है ।।१२।।

प्रेम का सौभाग्य—

श्रीचैतन्यचरणानुरक्त भक्तवर्य श्रीरायरामानन्दजी दो श्लोकों से कहते हैं कि—आर्तबन्धु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की षोड़शोपचारमयी पूजा भी श्रद्धाभक्ति का अंकुर न होने के कारण पूजक जनके हृदय में परमानन्द का उदय नहीं करती । अपितु प्रेमपूर्वक की हुई भगवान् की पूजा से ही भक्त का हृदय सुखपूर्वक द्रवीभूत हो जाता है । इस विषय का दृष्टान्त यही है कि—जितने अधिक परिमाणवाली भूख प्यास जिसके उदर में होगी उतने ही अधिक परिमाण का आनन्द उस व्यक्ति के लिये भक्ष्य एवं पेय में प्राप्त होगा । अर्थात् अत्यधिक भूख प्यास होने पर ही जैसे भोजन एवं जलपानादि सुखजनक होते हैं, इसी प्रकार प्रभु

रथोद्धता ।

कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते ।
तत्र लौल्यमपि मूल्यमेकलं जन्मकोटि-सुकृतैर्न लभ्यते ॥१४॥

*

तस्यैव ।

स्वागता ।

ज्ञानमस्ति तुलितं च तुलायां प्रेम नैव तुलितं तु तुलायाम् ।
सिद्धिरेव तुलितात्र तुलायां कृष्णनाम तुलितं न तुलायाम् ॥१५

श्रीश्रीधरस्वामीपादानाम् ।

अथ नाम-माहात्म्यम् ।

आर्यागीतिः ।

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य ।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम ॥१६॥

श्रीलक्ष्मीधराणाम् ।

के श्रीचरणों में जिसका जितना अधिक अनुराग होगा उसके लिये उतना ही अधिक प्रेमानन्द प्राप्त होगा, कृपानुभव करते समय हृदय चूर-चूर हो जायगा ॥१३॥

हे सज्जनो ! श्रीकृष्ण-भक्ति-रसद्वारा भावित, अर्थात् पैदा हुई या सुवासित मति, यदि किसी स्थान विशेष पर मिल जाय तो तुरन्त खरीद लो । उसका मूल्य केवल लालसा मात्र है । किन्तु श्रीकृष्ण के सेवासुख की लालसा के बिना तो श्रीकृष्ण-भक्ति-रस भावित मति करोड़ों जन्मों के सुकृतों से भी नहीं मिल सकती ॥१४॥

अतएव श्रीश्रीधरस्वामीजी ने कहा है कि—अच्युतभाववर्जित ज्ञान एवं अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ ये दोनों तो तराजू में तुल गये । किन्तु भगवद्विषयक प्रेम और श्रीकृष्ण का नाम ये दोनों तुला में नहीं तुले, अर्थात् इन दोनों के बराबर कोई भी प्राप्तव्य पदार्थ संसार में नहीं हैं॥१५

* लौल्यमपि

शिखरिणी ।

चतुर्णां वेदानां हृदयमिदमाकृष्य हरिणा
चतुर्भिर्यद्वर्णैः स्फुटमघटि नारायणपदम् ।
तदेतद्गायन्तो वयमनिशमात्मानमधुना
पुनीमो जानीमो न हरिपरितोषाय किमपि ॥१७॥

कस्यचित् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

योग-श्रुत्युपपत्ति-निर्जनवन-ध्यानाध्व-सम्भावित-
स्वाराज्यं प्रतिपद्य निर्भयममी मुक्ता भवन्तु द्विजाः ।
अस्माकं तु कदम्बकुंजकुहर-प्रोन्मीलदिन्दीवर-
श्रेणी-श्यामलधाम-नाम जुषतां जन्मास्तु लक्षावधि ॥१८॥

श्रीईश्वरपुरीपादानाम् ।

अथ श्रीहरिनाम माहात्म्य—

श्रीभगवन्नाम कौमुदीकार श्रीलक्ष्मीधर कविवर कहते हैं कि—जिस प्रकार सूर्यदेव उदय होने मात्र से ही संपूर्ण अन्धकार को नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीहरि का नाम एक बार उच्चारण मात्र से ही जीव मात्र के सम्पूर्ण पापों को नष्ट कर देता है, अतएव जगत् में मङ्गलप्रद श्रीहरिनाम की जय हो ॥१६॥

श्रीभगवन्नाम माहात्म्य के विषय में अज्ञात नाम नामनिष्ठ किसी महात्मा ने भी कहा है कि—श्रीकृष्णचन्द्र ने चारों वेदों के हृदय को ही निकाल कर मानों स्पष्टरूपेण चार वर्णों के द्वारा अपने "नारायण" नाम की योजना की है । अतएव हम तो अब इस अनिर्वचनीयानन्दप्रद श्रीनारायण नाम का निरन्तर गान करते हुए ही अपनी आत्मा को पवित्र कर लेंगे । और श्रीहरि की प्रसन्नता का उत्पादक अन्य कोई साधन हम जानते भी नहीं हैं ॥१७॥

स्रग्धरा ।

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रोच्यमानम् ।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये कृष्णनाम ॥१९॥

कस्यचित् ।

श्रीईश्वरपुरीपाद भी कहते हैं कि—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य प्रभृति द्विजातिगण अष्टाङ्गयोग, वेदानुशीलन, निर्जन वन में वासपूर्वक एवं तीर्थाटन द्वारा सम्भावित निर्भयरूप स्वरूपानुभव प्राप्त करके, अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार करके यदि मुक्त हो जाते हैं तो हो जायें, उनसे हमारा कुछ कहना नहीं है। किन्तु कदम्ब की कुञ्जरूप गुफा से उदय होने वाले एवं नीलकमल श्रेणीतुल्य श्यामसुन्दर के नामामृत का सेवन करने वाले नामनिष्ठ हम भक्तों के तो लाखों जन्म भी यदि नामकीर्तन करते हुए व्यतीत हो जायें तो भी हमारी कुछ हानि नहीं है ॥१८॥

अतएव नामाश्रयी किसी भक्त ने कहा है कि—हे भक्तगण ! श्रीकृष्ण-नाम आप सब की लौकिक सम्पत्ति एवं पारलौकिक भक्तिरूप सम्पत्ति का बढ़ाने वाला हो, जो कि समस्त कल्याणों का विधान है, और निदानरूप पाठान्तर में वही समस्त कल्याणों का आदि कारण भी है, कलिमलों का नाशक है, और पवित्रताकारक यज्ञ योगादि जितने भी साधन हैं उनकी न्यूनता की पूर्ति का साधन होने से उनको भी पावन बनाने वाला है। और शीघ्र ही भगवद्धाम प्राप्ति के लिये प्रस्थान करने वाले मुमुक्षु का तो उच्चारण करने मात्र से ही पाथेय, अर्थात् मार्ग का निर्वाहकरूप टोसा है। और कविश्रेष्ठ श्रीवाल्मीकि-व्यास-शुकादिकों की विमलवाणी का तो एकमात्र विश्राम स्थान है, अर्थात् श्रेष्ठ कविजन जब अन्योपदेश विषयक कविता करते करते थक जाते हैं तब

शार्दूलविक्रीडितम् ।

वेपन्ते दुरितानि मोहमहिमा संमोहमालम्बते
सातंकं नखरंजनीं कलयति श्रीचित्रगुप्तः कृती ।
सानन्दं मधुपर्कसम्भृतिविधौ वेधाः करोत्युद्यमं
वक्तुं नाम्नि तवेश्वराभिलषिते ब्रूमः किमन्यत् परम् ॥२०

कस्यचित् ।

भगवन्नाम माहात्म्य विषयक कविता करके ही विश्रान्ति का लाभ करते हैं । और सज्जनों का तो यह जीवन ही है, एवं धर्मरूप वृक्ष का बीज है ॥१६॥

नामनिष्ठ किसी भक्त ने भी कहा है कि—हे ईश्वर ! आपके नामोच्चार करने की अभिलाषा करने मात्र से सम्पूर्ण पाप काँपने लग जाते हैं,संसार में बढ़ा हुआ, अर्थात् पुत्र, पौत्र, कलत्र,भृत्यादि में आसक्ति-रूप मोह भी मोहित होकर भाग जाता है । और सकल जन्तुओं के पुण्य पाप के लेखक, यमराज के प्रधानमन्त्री, न्यायशील कुशल श्रीचित्र-गुप्तजी भी अपनी नहरनी को शीघ्र ही आशंकापूर्वक उठाते हैं, अर्थात् इस नामोच्चार की अभिलाषावाले जीव का नाम तो मैंने पापियों की श्रेणी में लिख रक्खा था, परन्तु अब तो इसने नामोच्चार करने की अभिलाषा की है,अतः इसका नाम पापियों की श्रेणी से काट देना चाहिये, नहीं तो श्रीनाम माहात्म्य के विशिष्ट ज्ञाता श्रीयमराजजी मुझ पर कहीं कुपित न हो जायँ, इस विचार से ही चित्रगुप्तजी अपनी नहरनी को शीघ्र उठाते हैं । एवं श्रीब्रह्माजी भी 'यह नामोच्चार की अभिलाषावाले व्यक्ति ब्रह्माण्ड को भेदकर अवश्य ही भगवद् धाम को जायगा' ऐसा विचार कर उसकी पूजा के लिये आनन्दपूर्वक मधुपर्कादि सामग्री जुटाने के लिये उद्यत हो जाते हैं । अतएव हे प्रभो ! आपके मङ्गलमय श्रीनाम का माहात्म्य इससे अधिक और क्या कहें ॥२०॥

रथोद्धता ।

कः परेतनगरीपुरन्दरः को भवेदथ तदीयकिङ्करः ।
कृष्णनाम जगदेकमङ्गलं कण्ठपीठमुररीकरोति चेत् ॥२१॥

श्रीआनन्दाचार्यस्य ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ॥२२॥

श्रीश्रीभगवतः ।

श्रीआनन्दाचार्य भी कहते हैं कि—जगत् का एकमात्र मङ्गल भवन श्रीकृष्णनाम यदि कण्ठरूप सिंहासन पर विराजमान है तो यमराज एवं उसके दूतगण क्या कर सकते हैं, अतएव भागवत के षष्ठ स्कन्ध में दूतों के प्रति यमराज ने कहा है कि, हे मेरे दूतो ! जो नामकीर्तनपरायण व्यक्ति हैं उनके पास तो तुम सब भूलकर भी न जाना, कारण कि वे सब भगवान् की कौमोदकी गदा से सुरक्षित हैं, अतः उनको दण्ड देने की सामर्थ्य तो मुझ में और काल में भी नहीं है ॥२१॥

नाम माहात्म्य के विषय में कलिपावनावतार श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु की उक्ति तो सर्वोत्कृष्ट है, यथा—इस मायामय जगत् में श्रीकृष्ण-संकीर्तन ही विजय को प्राप्त होता है। (१) यही चित्तरूपी दर्पण का शोधन करने वाला है, (२) संसारस्वरूप महादावानल को मिटाने वाला है, (३) कल्याणरूपिणी कुमुदिनी के विकास के लिये चन्द्रिका का विस्तार करने वाला है, (४) विद्यारूप वधू का जीवन-स्वरूप है, (५) आनन्दरूपी समुद्र का बढ़ाने वाला है, (६) पद पद पर पूर्ण अमृत का आस्वाद कराने वाला है, एवं (७) बाहर भीतर से

शालिनी ।

ब्रह्माण्डानां कोटिसंख्याधिकाना-
मैश्वर्यं यच्चेतना वा यदंशः ।
आविर्भूतं तन्महः कृष्णनाम
तन्मे साध्यं साधनं जीवनं च ॥२३॥ केषांचित् ।

स्रग्धरा ।

विष्णोर्नामैव पुंसः शमलमपहरत् पुण्यमुत्पादयञ्च
ब्रह्मादिस्थानभोगाद्विरतिमथ गुरोः श्रीपदद्वन्द्वभक्तिम् ।
तत्त्वज्ञानं च विष्णोरिह मृतिजनन-भ्रान्तिबीजं च दग्ध्वा
संपूर्णानन्दबोधे महति च पुरुषं स्थापयित्वा निवृत्तम् ॥२४॥
श्रीभगवद्व्यासपादानाम् ।

सर्वतोभावेन अन्तःकरण पर्यन्त स्नान करा देता है, अर्थात् जीव के अन्तःकरण के समस्त पापताप नष्ट कर देता है। इस प्रकार श्रीनाम-संकीर्तन की सात भूमिकायें हैं। आचाण्डाल पामर पर्यन्त को इन सात भूमिकाओं पर यथाधिकार पहुँचा देने के कारण कर्म,ज्ञानादि साधनों की अपेक्षा श्रीनाम-संकीर्तन की ही इस जगत् में पूर्ण विजय है। "परं विजयते" पद से प्रभुने यह भी शिक्षा दी है कि—जैसे ज्ञान, कर्म आदिक साधन, भक्ति की सहायता के बिना दुर्बल रहते हैं, और अपनाःपूर्ण फल नहीं दे सकते। किन्तु भक्तिबीज श्रीनाम-संकीर्तन ऐसा परापेक्षी नहीं है, अर्थात् यह कर्म, ज्ञान आदि की सहायता की अपेक्षा नहीं करता है उनके बिना ही परं—केवलं—विजयते ॥२२॥

अतः किसी महापुरुष ने कहा है कि—अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का जो ऐश्वर्य एवं समस्त चैतन्य पदार्थ जिसका अंश है, ऐसे तेजस्वरूप श्रीकृष्ण ही नामरूप से भी आविर्भूत होते हैं। अतः वही श्रीकृष्णनाम ही मेरा आराध्य, साध्य, साधन, और जीवन है ॥२३॥

अनुष्टुभ् ।

नाम-चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः ।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः ॥२५॥ तेषामेव ॥

मालिनी ।

मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां
सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम् ।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर ! नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम ॥२६॥

अमीषामेव ।

भगवान् श्रीवेदव्यासजी भी तीन श्लोकों से कहते हैं कि—भगवान् का नाम ही जीव मात्र के पापों का अपहरण करता हुआ, श्रीकृष्ण-भजन योग्य पुण्य को उत्पन्न करता हुआ, ब्रह्मलोक पर्यन्त के भोगों से वैराग्य को उत्पन्न करता हुआ, श्रीगुरुदेव के चरणारविन्दद्वन्द्व में भक्ति बढ़ाता हुआ, भगवद्विषयक तत्त्वज्ञान को विकसित करता हुआ, नामपरायण जीव मात्र की जन्ममरणरूपी भ्रान्ति की हेतु अविद्या को जलाकर अखण्ड सच्चिदानन्दघन ज्ञानस्वरूप श्रीभगवान् की सेवा में जीव को सदैव के लिये स्थापित करके निवृत्त हो जाता है, अर्थात् पूर्वोक्त कार्यों से भिन्न और कोई कर्तव्य कार्यों के शेष न रहने के कारण भगवन्नाम शान्त हो जाता है ।।२४।।

नाम और नामी में भेद न होने के कारण—चैतन्यरसविग्रह, पूर्ण शुद्ध, नित्य मुक्त श्रीकृष्णचन्द्र ही नामरूप से अवतीर्ण हैं । अर्थात् श्रीकृष्ण अवतार लेकर जैसे भक्तों के अभीष्टों को पूर्ण करते हैं, उसी प्रकार चिन्तामणि के सदृश उनका नाम भी समस्त अभीष्टों को पूर्ण कर सकता है ।।२५।।

हे भृगुवर ! मधुर से भी मधुर, मङ्गलों का भी मङ्गलकारक, सम्पूर्ण वेदरूप लता का सुन्दर फल, एवं चैतन्यस्वरूप श्रीकृष्णनाम का

मन्दाक्रान्ता ।

स्वर्गार्थीया व्यवसितिरसौ दीनयत्येव लोकान्
मोक्षापेक्षा जनयति जनं केवलं क्लेशभाजम् ।
योगाभ्यासः परमविरसस्तादृशैः किं प्रयासैः
सर्वं त्यक्त्वा मम तु रसना कृष्ण कृष्णेति रौतु ॥२७॥

कस्यचित् ।

शिखरिणी ।

सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं
तथाप्येकं स्तोकं न हि भवतरोः पत्रमभिनत् ।
क्षणं जिह्वाग्रस्थं तव तु भगवन्नाम निखिलं
समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः ? २८॥

श्रीश्रीधरस्वामीपादानाम् ।

भाव से, अभाव से, अथवा कुभाव से, किसी प्रकार भी यदि एकबार गायन कर लिया तो जीव मात्र को अनायास संसारसागर से तार देता है ॥२६॥

अतः नामरस-रसिक कोई भक्तशिरोमणि कहते हैं कि—स्वर्ग प्राप्ति के साधनों का जो अनुष्ठान है वह जीवों को परम दीन बना देता है। मोक्ष की चाहना भी भक्ति रसास्वाद रहित होने के कारण मोक्षापेक्षी जनको केवल क्लेश भागी बना देती है, एवं योगाभ्यास भी परम विरस है, अतएव ऐसे प्रयासों से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। मेरी जिह्वा तो सब को त्यागकर केवल प्रेमपूर्वक हा कृष्ण ! हा कृष्ण ! इस प्रकार पुकारती रहे ॥२७॥

श्रीश्रीधरस्वामीजी भी अपनी भावना को व्यक्त करते हैं कि—हे भगवन् ! यद्यपि आपके श्रीअङ्ग की प्रभास्वरूप निर्मल निष्कल

शार्दूलविक्रीडितम् ।

आकृष्टिः कृतचेतसां सुमहतामुच्चाटनं चांहसा-
माचण्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मोक्षश्रियः ।
नो दीक्षां न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते
मंत्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णनामात्मकः ॥२९॥

श्रीलक्ष्मीधराणाम् ।

निष्कारण निराकार ब्रह्म सदैव से सर्वत्र विराजमान है, तथापि उसने संसाररूपी वृक्षके एक छोटासा पत्रका भी छेदन नहीं किया। किन्तु हे प्रभो ! आपका मङ्गलमय नाम यदि क्षणभर भी अपनी अहैतुकी कृपा से जिह्वा के अग्रभाग में विराजमान हो गया तो नामग्राही जनके सम्पूर्ण संसारवृक्ष को समूल नष्ट कर देता है, अतः प्रभो ! आप ही बताइये इन दोनों में से कौन सेवनीय है ? ॥२८॥

पण्डितराज श्रीलक्ष्मीधरजी भी कहते हैं कि—यह श्रीकृष्णनामात्मक महामन्त्र ऐसा विचित्र शक्तिशाली एवं सुलभ है कि जिह्वा के स्पर्श मात्र से ही फलीभूत हो जाता है । और आत्माराम आप्तकाम विशुद्ध चित्त वाले जनों को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेने से सर्वश्रेष्ठ वशीकरण मन्त्र है । और यज्ञ, योग, तप, दानादि द्वारा भी नष्ट न होने वाले बड़े बड़े महापातकों को भगाने का एक विचित्र उच्चाटन मन्त्र है । एवं सर्व देश, कालादि में भी कीर्तनीय होने के कारण सुलभ भी इतना है कि मूक (गूँगा) व्यक्ति भिन्न चाण्डाल पर्यन्त सभी इसका कीर्तन कर सकते हैं । कीर्तन करने की इच्छा मात्र से ही यह अपनी अहैतुकी कृपा से जन मात्र के वशीभूत हो जाता है । और दुर्लभ मोक्षलक्ष्मी तो इसके पीछे पीछे ही लगी डोलती है । और मन्त्रों की भाँति यह अनुष्ठान के लिये गुरु द्वारा दीक्षा, सदाचार, एवं पुरश्चरण आदि की किंचित् भी अपेक्षा नहीं करता ॥२९॥

अनुष्टुभ् ।

विचेयानि विचार्याणि विचिन्त्यानि पुनः पुनः ।
कृपणस्य धनानीव त्वन्नामानि भवन्तु नः ॥३०॥

श्रीभवानन्दस्य ।

वसन्ततिलकम् ।

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ! ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥३१॥

श्रीश्रीभगवतः ।

नामपरायण जीवों के लिये भगवन्नाम ही जीवनोपाय है,इस बात को श्रीभवानन्दजी कहते हैं यथा—हे दयामय भगवन् ! हमारे ऊपर तो आप ऐसी कृपा कीजिये कि कृपणजन जिस प्रकार धन को प्राणप्रिय समझ कर इतस्ततः इकट्ठा करते रहते हैं, और प्रतिक्षण इस विचार में निमग्न रहते हैं कि ये बहुमूल्य मनोहर द्रव्यादि किस प्रकार वृद्धि को प्राप्त हों,अतः प्राणों से भी प्रिय ये वस्तुयें बन्धु बान्धवों के भी दृष्टिगोचर नहीं होनी चाहिये, अन्यथा हर लेंगे, इसी प्रकार आपके परम मनोहर नामों का ही शास्त्ररूप खजानों से संकलन किया करूँ । और उनकी महार्घता का बारबार विचार किया करूँ और उसी की चिन्ता में निमग्न रहा करूँ । यदि आप कृपा न करेंगे तो मेरी प्राकृत जिह्वा आपके अप्राकृत नामों का उच्चारण नहीं कर सकती । अतः शास्त्र में कहा है—"अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद ग्राह्यमिन्द्रियैः, सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः" ॥३०॥

श्रीचैतन्य महाप्रभु विषाद और दैन्य में कहते हैं कि—हे भगवन् ! जीवों की भिन्न भिन्न रुचिको रखने के लिये ही तो आपने अपने मुकुन्द,

अथ नामकीर्तनम् ।

अनुष्टुभ् ।

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥३२॥

श्रीश्रीभगवतः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

श्रीरामेति जनार्दनेति जगतां नाथेति नारायणे-
त्यानन्देति दयापरेति कमलाकान्तेति कृष्णेति च ।
श्रीमन्नाम-महामृताब्धिलहरीकल्लोलमग्नं मुहु-
र्मुह्यन्तं गलदश्रु-नेत्रमवशं मां नाथ ! नित्यं कुरु ॥३३॥

श्रीलक्ष्मीधराणाम् ।

माधव, गोविन्द, दामोदर, घनश्याम, श्यामसुन्दर, यशोदानन्दन इत्यादि नाम रक्खे, और प्रत्येक नाम में अपनी सम्पूर्ण शक्ति भी स्थापित करदी, एवं स्मरण के विषय में देश-काल-शुद्धाशुद्धी का भी नियम बन्धन तोड़ दिया । हाय प्रभो ! आपकी तो जीवों पर ऐसी अहैतुकी कृपादृष्टि वृष्टि है तथापि मेरा तो ऐसा दुर्भाग्य है कि आपके नाम में अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ ॥३१॥

अथ नामकीर्तन परिपाटी ।

महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव कहते हैं कि—अपने को तृण से भी नीचा समझकर, वृक्ष से भी सहनशील बनकर, स्वयं अमानी होकर, दूसरों के मान देने वाला बनकर, सदैव श्रीहरिनाम-संकीर्तन करता रहे ॥३२॥

श्रीभगवन्नामकौमुदीकार श्रीलक्ष्मीधरजी की नाम निष्ठा का वर्णन उनके वचनों से दो श्लोकों से ही करते हैं, यथा—हे श्रीराम ! हे

वसन्ततिलकम् ।

श्रीकान्त कृष्ण करुणामय कंजनाभ !
कैवल्य-वल्लभ मुकुन्द मुरान्तकेति ।
नामावलीं विमलमौक्तिकहारलक्ष्मी-
लावण्यवञ्चनकरीं करवाणि कण्ठे ॥३४॥ तेषामेव ।

हरनर्तनम् ।

कृष्ण राम मुकुन्द वामन वासुदेव जगद्गुरो !
मत्स्य कच्छप नारसिंह वराह राघव ! पाहि माम् ।
देव-दानव-नारदादिमुनीन्द्र-वन्द्य ! दयानिधे !
देवकीसुत ! देहि मे तव पादभक्तिमचञ्चलाम् ॥३५॥

कस्यचित् ।

जनार्दन ! हे जगन्नाथ ! हे नारायण ! हे आनन्दमय ! हे दयापर ! हे कमलाकान्त ! हे कृष्ण ! हे नाथ ! इस प्रकार के आपके जो संबोधनमय नामरूप महाअमृत समुद्र हैं उनकी प्रेमरूपी तरङ्गों में मुझे निमग्न कर दीजिये। और संसारी जनों का पुत्र पौत्रादि में जैसा मोह होता है ऐसा मोह आपके नाम में उत्पन्न कर दीजिये, एवं कीर्तन करते समय मेरे दोनों नेत्रों से अजस्र अश्रुधार बहा करे, और मैं स्वयं कीर्तनानन्द में विवश हो जाया करूँ। प्रभो ! आपकी कृपा से मेरी यह स्थिति नित्य ही बनी रहे ॥३३॥

श्रीकान्त ! कृष्ण ! करुणामय ! कंजनाभ ! कैवल्यवल्लभ ! मुकुन्द ! मुरारे ! आपकी यह निर्मल मुक्ताहार की शोभा को तिरस्कृत कर देने वाली विमल नामावली को हम नित्य ही कण्ठ में धारण किया करें। ऐसी कृपा कर दीजिये प्रभो ! ॥३४॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

हे गोपालक हे कृपाजलनिधे हे सिन्धुकन्यापते !
हे कंसान्तक हे गजेन्द्रकरुणापारीण हे माधव !
हे रामानुज हे जगत्त्रयगुरो हे पुण्डरीकाक्ष ! मां
हे गोपीजननाथ ! पालय परं जानामि न त्वां विना ॥३६॥

श्रीवैष्णवस्य ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

श्रीनारायण पुण्डरीकनयन श्रीराम सीतापते !
गोविन्दाच्युत नन्दनन्दन मुकुन्दानन्द दामोदर !
विष्णो राघव वासुदेव नृहरे देवेन्द्रचूडामणे !
संसारार्णव-कर्णधारक हरे श्रीकृष्ण ! तुभ्यं नमः ॥३७॥

तस्यैव ।

नामकीर्तन करता हुआ दूसरा कवि भी कहता है कि—हे कृष्ण ! हे राम ! हे मुकुन्द ! हे वामन ! हे वासुदेव ! हे जगद्गुरो ! हे मत्स्य ! हे कच्छप ! हे नरसिंह ! हे वराह ! हे राघव ! मेरी रक्षा कीजिये । हे देव-दानव-नारदादि मुनीन्द्रवन्दनीय ! हे कृपासिन्धो ! हे देवकीनन्दन ! आप अपने चरणारविन्दों में निश्चलाभक्ति मुझे प्रदान कीजिये ।।३५।।

एक श्रीवैष्णव भी दो श्लोकों से अपनी नाम निष्ठाका इस प्रकार दिग्दर्शन कराते हैं कि—हे गोपालक ! हे कृपाजलनिधे ! हे सिन्धु-कन्यापते ! हे कंसान्तक ! हे गजेन्द्रकरुणापारीण ! हे माधव ! हे रामानुज ! हेजगत्त्रयगुरो ! हे पुण्डरीकाक्ष ! हे गोपीजनवल्लभ ! मैं आपके बिना और किसी को नहीं जानता हूँ, अतः आप मेरी रक्षा करो ।।३६।।

हे नारायण ! हे कमलनयन ! हे राम ! हे सीतापते ! हे गोविन्द ! हे अच्युत ! हे नन्दनन्दन ! हे मुकुन्द ! हे आनन्दमय दामोदर ! हे संसार-सिन्धु-कर्णधार ! हे हरे ! हे कृष्ण ! तुम्हारे लिये मेरा सादर प्रणाम है ।।३७।।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

भाण्डीरेश शिखण्डमण्डन वर श्रीखण्डलिप्ताङ्ग ! हे
वृन्दारण्यपुरन्दर स्फुरदमन्देन्दीवरश्यामल !
कालिन्दीप्रिय नन्दनन्दन परानन्दारविन्देक्षण !
श्रीगोविन्द मुकुन्द सुन्दरतनो ! मां दीनमानन्दय ॥३८॥

श्रीगोपालभट्टानाम् ।

अथ श्रीकृष्णकथामाहात्म्यम् ।

अनुष्टुभ् ।

श्रुतमप्यौपनिषदं दूरे हरिकथामृतात् ।
यन्न सन्ति द्रवच्चित्तकम्पाश्रुपुलकादयः ॥३९॥

श्रीभगवद्व्यासपादानाम् ।

रथोद्धता ।

नैव दिव्यसुखभोगमर्थये नापवर्गमपि नाथ ! कामये ।
यान्तु कर्णविवरं दिने दिने कृष्णकेलिचरितामृतानि मे ॥४०॥

श्रीकविरत्नस्य ।

श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी भी कहते हैं कि—हे भाण्डीरवट-स्वामिन् ! हे मयूरपिच्छभूषण ! हे सर्वश्रेष्ठ ! हे चन्दनचर्चितकलेवर ! हे वृन्दावनेन्द्र ! हे विकसित नीलकमलदलश्यामल ! हे कालिन्दीप्रिय ! हे नन्दनन्दन ! हे परमानन्द ! हे कमलदललोचन ! हे गोविन्द ! हे मुकुन्द ! हे सुन्दरतनो ! मुझ दीन दुःखी को आनन्दित कीजिये ॥३८॥

अथ श्रीकृष्ण कथा माहात्म्य—

भगवान् श्रीवेदव्यासजी कहते हैं कि—मैंने उपनिषद् प्रतिपाद्य निर्विशेष ब्रह्म का खूब श्रवण किया, परन्तु वह तो श्रीकृष्ण के कथारूप अमृत से बहुत दूर रहे । कारण कि ऐसे ब्रह्म के श्रवण से क्या लाभ, जिसके श्रवण में चित्त द्रवीभूत नहीं होता, शरीर में कम्प, अश्रु,पुलकादि सात्त्विक भावों का उदय नहीं होता ? ॥३९॥

वंशस्थविलम् ।

अहो अहोभिर्न कलेर्विदूयते सुधा-सुधारा-मधुरं पदे पदे ।
दिने दिने चन्दन-चन्द्र-शीतलं यशो यशोदातनयस्य गीयते ॥४१॥

तस्यैव ।

अनुष्टुभ् ।

नन्दनन्दन-कैशोर-लीलामृतमहाम्बुधौ ।
निमग्नानां किमस्माकं निर्वाण-लवणाम्भसा ? ॥४२॥

श्रीयादवेन्द्रपुरीपादानाम् ।

अनुष्टुभ् ।

त्वत्कथामृत-पाथोधौ विहरन्तो महामुदः ।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥४३॥

श्रीश्रीधरस्वामीपादानाम् ।

श्रीकविरत्न नामक कवि भी दो श्लोकों से कहते हैं कि—हे **नाथ !** मैं स्वर्गीय सुखों को नहीं भोगना चाहता, मोक्ष भी नहीं चाहता। मेरी तो आपके श्रीचरणों में केवल यही प्रार्थना है कि आपके सुन्दर चरितामृत ही मेरे कानों को प्रतिदिन श्रवण करने के लिये मिलते रहे ॥४०॥

हे प्रिय सज्जनो ! जो व्यक्ति पदपद पर अमृत की धारा से भी परम मधुर, एवं चन्दन और चन्द्रमा से भी शीतल, श्रीयशोदानन्दन के यश का प्रतिदिन गायन करता है, वह कलिकाल के दुर्दिनों से कभी भी पीड़ित नहीं होता है ॥४१॥

श्रीयादवेन्द्रपुरीजी भी कहते हैं कि—श्रीनन्दनन्दन की किशोरावस्था की की हुई सुन्दर लीलारूप महा अमृत समुद्र में नित्य गोता लगा कर स्नान करने वाले हम सब को भगवत्सेवा सुखानुभवशून्य सायुज्य मुक्तिरूप खारे समुद्र की कोई आवश्यकता नहीं है ॥४२॥

इन्द्रवज्रा ।

तत्रैव गङ्गा यमुना च तत्र गोदावरी तत्र सरस्वती च ।
सर्वाणि तीर्थानि वसन्ति तत्र यत्राच्युतोदारकथाप्रसङ्गः ॥४४॥

कस्यचित् ।

इन्द्रवज्रा ।

या भुक्तिलक्ष्मीर्भुवि कामुकानां
या मुक्तिलक्ष्मीर्हृदि योगभाजाम् ।
यानन्दलक्ष्मी रसिकेन्द्रमौलेः
सा कापि लीलावतु माधवस्य ॥४५॥

श्रीशंकरस्य ।

श्रीश्रीधरस्वामीजी भी कथा विषयक अपने अनुराग को प्रगट करते हैं कि—हे भगवन् ! कोई कोई पुण्यात्मा एवं सारासार विवेकी जन आनन्दपूर्वक आपके कथामृतरूप समुद्र में विहार करते हुए चतुर्वर्ग को, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों को तृण के समान समझते हैं ।।४३।।

अतएव किसी विशिष्ट कथानुरागी महात्मा ने भी कहा है कि—जिस स्थान पर भगवान् अच्युत की विशिष्ट कथा प्रसंग की चर्चा चलती रहती है, उस स्थान पर श्रीगंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती आदि पुण्य नदियाँ, एवं सम्पूर्ण तीर्थ स्वयं आकर निवास करते हैं ।।४४।।

श्रीशंकरजी भी कहते हैं कि—इस पृथिवीतल पर कामी पुरुषों के लिये जो भोग सम्पत्तिस्वरूप है और जो योगियों के हृदय स्थल में मुक्ति सम्पत्तिस्वरूप है, एवं जो भक्तिरसशेखर भक्तों की आनन्दरूपा लक्ष्मी है, माधव की वही ऐश्वर्य माधुर्यमयी अनिर्वचनीया लीला तुम सब की रक्षा करे ।।४५।।

अथ श्रीकृष्णध्यानम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम् ।
गोपीनां नयनोत्पलार्चित-तनुं गोगोपसङ्घावृतं
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे ॥४६॥

श्रीशारदाकारस्य ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

अंसालम्बित-वामकुण्डलधरं मन्दोन्नत-भ्रूलतं
किञ्चित्कुञ्चितकोमलाधरपुटं साचिप्रसारेक्षणम् ।
आलोलांगुलिपल्लवैर्मुरलिकामापूरयन्तं मुदा
मूले कल्पतरोस्त्रिभङ्गललितं ध्यायेज्जगन्मोहनम् ॥४७॥

कस्यचित् ।

अथ श्रीकृष्ण ध्यान—

श्रीशारदाकार भक्तराज कहते हैं कि—मैं उन श्रीगोविन्द भगवान् का भजन करता हूँ कि, जिनके श्रीअङ्ग की कान्ति विकसित दिव्य नीलकमल की सी है, जिनका मुखारविन्द दिव्य चन्द्रतुल्य है, मयूरपंख के बने आभूषण जिनको अतिशय प्यारे लगते हैं, जिनके वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न है, लोकोत्तर सुन्दर कौस्तुभमणि एवं पीताम्बर धारण किये हुए हैं, अतएव स्वयं त्रिभुवनमोहन हैं। गोपियों के सहस्रों नेत्रकमलों से जिनका श्रीविग्रह पूजित है, गैया और ग्वालबालों के समुदाय से जो चारों ओर से घिरे हुये हैं, अव्यक्त एवं मधुर ध्वनियुक्त वेणु को जो बजा रहे हैं, और सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीविग्रह में दिव्य भूषणों को धारण किये हुए हैं ।।४६।।

आर्यागीतिः ।

अधरे विनिहितवंशं चम्पककुसुमेन कल्पितोत्तंसम् ।
विनतं दधानमंसं वामं सततं नमामि जितकंसम् ॥४८॥

श्रीपुरुषोत्तमदेवस्य ।

वसन्ततिलकम् ।

व्यत्यस्तपादकमलं ललितत्रिभङ्गी-
सौभाग्यमंसविरलीकृतकेशपाशम् ।
पिञ्छावतंसमुररीकृतवंशनाल-
मव्याजमोहनमुपैमि कृपाविशेषम् ॥४९॥

श्रीनारदस्य ।

ध्याननिष्ठ कोई अन्य भक्त भी कहते हैं कि—जो अपने दोनों कन्धों तक लटकते हुये सुन्दर कुण्डल धारण किये हुए हैं, जिनकी भ्रूलता किंचित् उन्नत है, जिनके कोमल अधरपुट किंचित् कुंचित् हैं. अर्थात् वंशी बजाने के कारण कुछ सिकड़े हुए हैं, जिनके तिरछे एवं विशाल नयन हैं, और जो चंचल अंगुलि पल्लवों से आनन्दपूर्वक मुरली बजा रहे हैं, एवं जो मनोहर त्रिभंगी चाल से कल्पवृक्ष के नीचे विराजमान हैं, ऐसे जगन्मोहन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का ध्यान करना चाहिए ॥४७॥

श्रीपुरुषोत्तमदेवजी कहते हैं कि—जिन्होंने अधर पर वंशी धारण कर रक्खी है, चमेली के पुष्पों से शिरोभूषण एवं कर्णभूषण बना रक्खे हैं, और वंशी बजाने के कारण बाँया कन्धा किंचित् नवा रक्खा है, उन्हीं कंस विजयी श्रीकृष्ण को मैं बारंबार नमस्कार करता हूँ ॥४८॥

श्रीनारदजी भी कहते हैं कि—जिनके चरणकमल व्यत्यस्तभाव से हैं, अर्थात् वाम पाद पर दक्षिण चरण धारण किये हैं, और जो ललित-त्रिभङ्गी परम सुन्दर चाल से दर्शकों के सौभाग्य को बढ़ा रहे हैं, एवं जिनके केशपाश बाँयें कन्धे पर विरलभाव से लटक रहे हैं, मस्तक पर

अथ भक्तवात्सल्यम् ।

पृथ्वी ।

अतन्द्रित-चमूपति-प्रहित-हस्तमस्वीकृत-
प्रणीत-मणिपादुकं किमिति विस्मृतान्तःपुरम् ।
अवाहन-परिष्क्रियं पतगराजमारोहतः
करिप्रवर-बृंहिते भगवतस्त्वरायै नमः ॥५०॥

श्रीदाक्षिणात्यस्य ।

मयूर मुकुट सुशोभित है, और जो अधर पर वंशी धारण किये हुये हैं, मैं उन्हीं निष्कपट करुणावरुणालय मोहन मूर्ति श्रीकृष्ण का भजन करता हूँ ॥४९॥

अथ भक्तवात्सल्य—

भक्तों पर भगवान् का कैसा वात्सल्य है, इस बात को श्रीदक्षिण-देशीय एक विद्वान् के वचन से दिखाते हैं कि—ग्राहग्रस्तगजेन्द्र ने आर्तस्वर से जब भगवान् की स्तुति की, उस समय गजेन्द्र को छुड़ाने के लिये भगवान् के हृदय में इतनी भारी त्वरा (उतावली) अर्थात् शीघ्रता उत्पन्न हुई कि, जिसके कारण गरुड़जी पर आरोहण करते समय आलस्य रहित आपके सेनापति ने आपको चढ़ाने के लिये हाथ फैलाया, उसको भी आपने अपने हस्तकमल से नहीं पकड़ा । सेवकों के द्वारा लाई हुई मणिमय पादुका भी आपने धारण नहीं कीं । अपितु—"अहह ! इतनी शीघ्रता से हमको कौन हठात् बुला रहा है ? मैं शीघ्र ही उसी स्थान पर जाऊँगा" ऐसा कहते हुए अन्तःपुरस्थ श्री, भू, लीला आदि समस्त परिकर को भूल गये, और श्रीगरुड़जी पर झूल भी न डाली, अति शीघ्रता से आकर ग्राह से गजराज को बचाया । अतः ग्राह से गजराज को बचाने वाली भक्तवात्सल्य स्वरूपा जो भगवान् की त्वरा है, उसे मैं भी इसीलिये बारंबार प्रणाम करता हूँ, और निवेदन करता हूँ कि,

द्रौपदीत्राणे तद्वाक्यम् ।

मालिनी ।

तमसि रविरिवोद्यन्मज्जतामप्लवानां
प्लव इव तृषितानां स्वादुवर्षीव मेघः ।
निधिरिव निधनानां तीव्रदुःखामयानां
भिषगिव कुशलं नो दातुमायाति शौरिः ॥५१॥

श्रीव्यासपादानाम् ।

अथ तद्भक्तानां माहात्म्यम् ।

वसन्ततिलकम् ।

प्रह्लाद-नारद-पराशर-पुण्डरीक-
व्यासाम्बरीष-शुक-शौनक-भीष्म-दाल्भ्यान् ।
रुक्माङ्गदोद्धव-विभीषण-फाल्गुनादीन्
पुण्यानिमान् परमभागवतान् नमामि ॥५२॥

श्रीदाक्षिणात्यस्य ।

हे भगवत् त्वरे ! गजराज को तो एक ही ग्राह ने ग्रसा था। मुझे तो काम,क्रोध,लोभ, मोह, मद, मात्सर्यादि अनेकों ग्राह निगले ही जा रहे हैं, दयामय ! शीघ्रतया मुझे बचाइये ॥५०॥

द्वैतवन में दुर्वासा के शाप के भय से पाण्डव घबड़ा गये थे, उस समय द्रौपदी ने अति आर्तस्वर से श्रीकृष्ण को पुकारा था, उस समय अपनी रक्षा के लिये अत्यन्त शीघ्रता से आते हुए श्रीकृष्ण को देखकर द्रौपदी क्या कहती है, इस बात को श्रीवेदव्यासजी इस प्रकार लिखते हैं कि—अन्धकार विनाशार्थ उदयशील प्रातःकालीन सूर्य के समान, जल में डूबते हुये नौकाहीन जनों को बचाने के लिये नौका की तरह, प्यास से पीड़ितों को बचाने के लिये मधुर जल वृष्टि करने वाले मेघ की भाँति, निर्धनों के लिये प्राणभूत खजाने के सदृश, तीव्र दुःखप्रद रोगों से पीड़ित

शार्दूलविक्रीडितम् ।

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदंघ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परम् ॥५३॥

कस्यचित् ।

वसन्ततिलकम् ।

तेभ्यो नमोऽस्तु भववारिधि-जीर्ण-पङ्क-
संमग्न-मोक्षण-विचक्षण-पादुकेभ्यः ।
कृष्णेति वर्णयुगलश्रवणेन येषा-
मानन्दथुर्भवति नर्तित-रोमवृन्दः ॥५४॥

श्रीऔत्कलस्य ।

रोगियों के लिये कुशल वैद्य के तुल्य, हमको कुशल क्षेम प्रदान करने के लिये श्रीकृष्णचन्द्र आ रहे हैं ॥५१॥

अथ भगवद्भक्त माहात्म्य—

श्रीदाक्षिणात्य कवि कहते हैं कि—प्रह्लाद, नारद, पराशर, पुण्डरीक, व्यास, अम्बरीष, शुक, शौनक, भीष्म, दाल्भ्य, रुक्माङ्गद, उद्धव, विभीषण, अर्जुन प्रभृति इन पुण्यात्मा परम महाभागवतों को नमस्कार करता हूँ ॥५२॥

किसी कविराज ने नवधाभक्ति के प्रधान आचार्यों का कैसा सुन्दर संकलन एक ही श्लोक में कर दिया है, यथा—श्रीभगवत् कथा श्रवण के प्रधान आचार्य श्रीपरीक्षित्जी हुए हैं, एवं कीर्तन के श्रीशुकदेवजी, श्रीप्रह्लादजी स्मरण विषय में, पादसेवन भक्ति में श्रीलक्ष्मीजी प्रधान आचार्य हैं। भगवत् पूजन में श्रीपृथुजी, वन्दन भक्ति में श्रीअक्रूरजी, दास्य भक्ति में श्रीहनुमानजी, सख्यभाव में श्रीअर्जुनजी, एवं सर्वतोभावेन

शिखरिणी ।

हरिस्मृत्याह्लाद-स्तिमित-मनसो यस्य कृतिनः
सरोमाञ्चः कायो नयनमपि सानन्द-सलिलम् ।
तमेवाचन्द्रार्कं वह पुरुषधौरेयमवने !
किमन्यैस्तैर्भारैर्यमसदनगत्यागतिपरैः ? ॥५५॥

श्रीसर्वानन्दस्य ।

आत्मनिवेदन करने में श्रीबलिराजा ही प्रसिद्ध हैं । इन सबको केवल एक एक भक्ति का यथार्थ अनुष्ठान करने से ही श्रीकृष्ण की प्राप्ति हो गई ।।५३।।

श्रीऔत्कल नामक कवि भी कहते हैं कि—उन महात्माओं के लिये मेरा बारंबार नमस्कार है, जिनके कर्णयुगल में "कृष्ण" ये दो वर्ण-युगल कुण्डल धारण करते ही हृदय में प्रेमानन्द का संचार हो जाता है, जिनके रोमवृन्द नृत्य करने लग जाते हैं, और संसारसागर के अनादि-काल के वासना वा अविद्यामय कीचड़ में निमग्न जीवों की मुक्ति करने में जिनकी पादुका ही विशिष्ट पण्डित हैं । अर्थात् जैसे किसी विशिष्ट भगवत्तत्त्वज्ञ पण्डित के सदुपदेश से जीव मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार ऐसे महापुरुषों की पादुकाओं की सेवा करने मात्र से जीव का उद्धार हो जाता है ।।५४।।

अतएव सर्वानन्दप्रद अन्वर्थ नामा श्रीसर्वानन्दजी भी कहते हैं कि—जिस पुण्यात्मा का मन श्रीहरि स्मृतिजनित आनन्द मात्र से द्रवीभूत हो जाता है, शरीर रोमाञ्चों से युक्त हो जाता है, एवं नयनयुगल भी आनन्दाश्रुओं से परिपूरित हैं, हे धरणि मात ! ऐसे पुरुषरत्न को ही आप सूर्य-चन्द्रमा जब तक रहें तब तक धारण करती रहो । और अपने पापों के कारण बारंबार यमराज के दरबार में आने जाने वाले भारभूत जनों के धारण करने से क्या प्रयोजन ? ।।५५।।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

त्वद्भक्तः सरितां पतिं चुलुकवत् खद्योतवद्भास्करं
मेरुं पश्यति लोष्ट्रवत् किमपरं भूमेः पतिं भृत्यवत् ।
चिन्तारत्नचयं शिलाशकलवत् कल्पद्रुमं काष्ठवत्
संसारं तृणराशिवत् किमपरं देहं निजं भारवत् ॥५६॥

श्रीसर्वज्ञस्य ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

मीमांसारजसा मलीमसदृशां तावन्न धीरीश्वरे
गर्वोदर्क-कुतर्क-कर्कश-धियां दूरेऽपि वार्ता हरेः ।
जानन्तोऽपि न जानते श्रुतिसुखं श्रीरङ्गिसङ्गाहृते
सुस्वादुं परिवेषयन्त्यपि रसं गुर्वी न दर्वी स्पृशेत् ॥५७॥

श्रीमाधवसरस्वतीपादानाम् ।

भक्तिनिष्ठ श्रीसर्वज्ञ नामक कवि भक्तों की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—हे भगवन् ! तुम्हारे भक्त समुद्र को चुल्लू के समान, सूर्य को खद्योत के समान, सुमेरु पर्वत को मिट्टी के ढेले के समान, सम्राट् चक्रवर्ती राजा को सेवक के समान, चिन्तामणि के समूह को पत्थर के टुकड़ों के समान, कल्पवृक्ष को साधारण काष्ठ के समान, संसार को तृण के ढेर के समान देखते हैं। और विशेष क्या कहें ? आपके वियोग में उनको अपना शरीर भी भारवत् प्रतीत होता है ॥५६॥

भक्तों के संग के बिना भगवत्तत्त्व का ज्ञान नहीं होता, और उसके बिना मुक्ति का सुख भी नहीं मिलता, इस तात्पर्य को श्रीमाधवसरस्वतीजी अपने वक्तव्य से स्पष्ट करते हैं कि—केवल कर्मकाण्ड प्रतिपादक मीमांसा दर्शनरूप धूलि से जिनके ज्ञानचक्षु अत्यन्त मलिन हो गई हैं, उनकी बुद्धि ईश्वर में प्रविष्ट नहीं हो सकती। गर्व ही है अन्तिम फल जिनका ऐसी कुतर्कों से जिनकी बुद्धि कर्कश (कठोर) हो गई है, हरि

अनुष्टुभ् ।

ज्ञानावलम्बकाः केचित् केचित् कर्मावलम्बकाः ।
वयं तु हरिदासानां पादत्राणावलम्बकाः ॥ ५८ ॥

कस्यचित् ।

अथ भक्तानां दैन्योक्तिः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

नामानि प्रणयेन ते सुकृतिनां तन्वन्ति तुण्डोत्सवं
धामानि प्रथयन्ति हन्त जलदश्यामानि नेत्रांजनम् ।
सामानि श्रुतिशष्कुलीं मुरलिकाजातान्यलंकुर्वते
कामानिर्वृतचेतसामिह विभो ! नाशापि नः शोभते ॥५९॥

समाहर्तुः ।

की कथा तो उनसे बहुत दूर है, अर्थात् उनको हरि चर्चा सुहाती ही नहीं। वेदज्ञ पण्डितजन भी श्रीकृष्ण में आसक्ति न होने से जानते हुए भी वेदों के वास्तविक तत्त्व को इस प्रकार नहीं जान पाते, जैसे बड़ी भारी दर्वी (चमची) सुस्वादु रस को परोसती हुई भी उस मधुर रस का स्वाद नहीं जानती ॥५७॥

भक्तों के अनुग्रह से ही जो अपने को कृतार्थ मानते हैं उनकी अन्यत्र अभिरुचि नहीं होती, इस निष्ठा को कोई महात्मा प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि—संसार में कोई ज्ञानावलम्बी हैं, और कोई कर्मावलम्बी हैं, परन्तु हम तो भगवद्दासों की पादुका मात्र का अवलम्बन करने वाले हैं ॥५८॥

भक्तों की दीनतामयी उक्तियाँ—

श्रीरूप गोस्वामीजी तीन श्लोकों से कहते हैं कि—हे भगवन् ! आपके मङ्गलमय समस्त नाम प्रेम के कारण पुण्यात्माओं के मुख का महोत्सव बढ़ाते हैं। आपके श्रीविग्रह की नूतन जलधर के समान श्याम

शार्दूलविक्रीडितम् ।

संसाराम्भसि सम्भृत-भ्रमभरे गम्भीर-तापत्रय-
ग्राहेणाभिगृहीतमुग्रगतिना क्रोशन्तमन्तर्भयात् ।
दीप्रेणाद्य सुदर्शनेन विबुधक्लान्तिच्छिदाकारिणा
चिन्तासन्ततिरुद्धमुद्धर हरे ! मच्चित्तदन्तीश्वरम् ॥६०॥

समाहर्तुः ।

मालिनी ।

विवृत-विविध-बाधे भ्रान्तिवेगादगाधे
बलवति भवपूरे मज्जतो मे विदूरे ।
अशरणगणबन्धो ! हा कृपाकौमुदीन्दो !
सकृदकृतविलम्बं देहि हस्तावलम्बम् ॥६१॥

समाहर्तुः ।

कान्ति उनके नेत्रों में अञ्जन का विस्तार करती है । आपकी मनोहर मुरली से उत्पन्न सामध्वनि अर्थात् प्रियवचनयुक्त ध्वनि उनके कानों को अलंकृत कर देती है । प्रभो ! विषयों की इच्छा से दुःखित मन वाले हमारी तो आशा भी अच्छी नहीं है । अतः पूर्वोक्त भक्तों की सी दशा तो हमको कैसे प्राप्त हो सकती हैं ? अर्थात् हे शरणागतवत्सल कृपालु प्रभो ! आप अहेतुकी अपनी कृपा से हमारा उद्धार कर दीजिये ॥५९॥

हे हरे ! मेरा चित्तरूपी गजेन्द्र चिन्तासमूह से आवृत्त है, और पुत्र-पौत्र-कलत्रादि मोहरूप अनेक भँवर जिसमें पड़ रहे हैं, ऐसे संसार-सागर के जल में भयंकर चाल वाले गंभीर तापत्रयरूप ग्राह ने उसे ग्रस लिया है । एवं भय के कारण उच्चस्वर से रोता हुआ आपको बुला रहा है, अतः प्रभो ! देव दुःख छेदनकारी देदीप्यमान सुदर्शन चक्र के द्वारा मेरे चित्तरूपी हाथी का उद्धार कर दीजिये ॥६०॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

नृत्यन् वायुविघूर्णितैः स्वविटपैर्गायन्नलीनां रुतै-
र्मुंचन्नश्रु मरन्दबिन्दुभिरलं रोमांचवानंकुरैः ।
माकन्दोऽपि मुकुन्द ! मूर्च्छति तव स्मृत्या नु वृन्दावने
ब्रूहि प्राणसमान ! चेतसि कथं नामापि नायाति ते ॥६२॥

श्रीईश्वरपुरीपादानाम् ।

अनुष्टुभ् ।

या द्रौपदी-परित्राणे या गजेन्द्रस्य मोक्षणे ।
मय्यार्ते करुणामूर्ते ! सा त्वरा क्व गता हरे ? ॥६३॥

श्रीऔत्कलस्य ।

जिसमें अनेक बाधायें स्पष्ट रूपेग विस्तृत हैं, भ्रान्ति के वेग से जो अगाध है, ऐसे बलवान् संसार-सागर में मैं डूबते डूबते बहुत दूर पहुँच गया हूँ, अतः हे अशरणगणबन्धो ! हा कृपाकौमुदीन्दो ! आप शीघ्र ही एकबार अपने हस्तकमल का अवलम्बन दीजिये, नहीं तो मैं बहते बहते डूब ही जाऊँगा ॥६१॥

श्रीईश्वरपुरीपाद भी निवेदन करते हैं कि—हे मुकुन्द ! आपके स्मरण मात्र से श्रीधाम वृन्दावन में विराजमान आम का वृक्ष भी वायु के द्वारा संचालित अपनी शाखाओं से नृत्य सा करता हुआ, और भ्रमरों की मधुर ध्वनि से गायन सा करता हुआ, एवं अपने पुष्परस बिन्दुओं से अश्रुधारा सी बहाता हुआ, तथा नवीन अंकुर समूह द्वारा रोमाञ्चित सा होता हुआ मूर्च्छित हो जाता है । हे प्राणसमानप्रियकृष्ण ! कहिये तो सही हमारे चित्त में तो आपका नाम भी नहीं आता है, क्या कारण है ? पूर्वोक्त प्रेम के सात्त्विक भावों का उदय होना तो दूर रहा ॥६२॥

कविराज श्रीऔत्कल भी कहते हैं कि—हे करुणामूर्ते हरे ! द्रौपदी की रक्षा के समय एवं ग्राह से गजेन्द्र की मुक्ति करने के समय जो आपकी

रथोद्धता ।

दीनबन्धुरिति नाम ते स्मरन्
यादवेन्द्र ! पतितोऽहमुत्सहे ।
भक्तवत्सलतया त्वयि श्रुते
मामकं हृदयमाशु कम्पते ॥६४॥

श्रीजगन्नाथसेनस्य ।

रथोद्धता ।

स्तावकास्तव चतुर्मुखादयो
भावकास्तु भगवन् ! भवादयः ।
सेवकाः शतमखादयः सुरा
वासुदेव ! यदि के तदा वयम् ? ॥६५॥

श्रीधनञ्जयस्य ।

त्वरा (उतावली) थी वह मुझ आर्त दीन दुखिया के समय कहाँ चली गई ? ॥६३॥

पण्डितराज श्रीजगन्नाथसेनजी अपनी दीनता प्रदर्शित करते हैं कि—हे यादवेन्द्र ! यद्यपि मैं महापतित हूँ, अतः मेरा उद्धार होना भी कठिन है । तथापि आपका 'दीनबन्धु' ऐसा नाम स्मरण करके तो मैं भी उत्साह कर लेता हूँ कि, मुझ दीन का भी उद्धार हो जायगा । परन्तु मेरे कानों में जब यह बात आती है कि, भगवान् तो 'भक्तवत्सल' हैं, तब तो मेरा हृदय शीघ्र ही काँपने लगता है ॥६४॥

भक्तवर श्रीधनञ्जय भी कहते हैं कि—हे भगवन् ! ब्रह्मा प्रभृति आपके स्तुति करने वाले विद्यमान हैं, शंकर प्रभृति आपका भावक (चिन्ताकारक) उपस्थित हैं, एवं इन्द्रादि देवगण आपके सेवापरायण हैं, तो कहिये, वासुदेव ! हम आपकी कौन सी सेवा के योग्य हो सकते हैं ? अपितु किसी काम के नहीं ॥६५॥

द्रुतविलम्बितम् ।

परम-कारुणिको न भवत्परः
परम-शोच्यतमो न च मत्परः ।
इति विचिन्त्य हरे ! मयि पामरे
यदुचितं यदुनाथ ! तदाचर ।।६६।।

कस्यचित् ।

वंशस्थविलम् ।

भवोद्भव-क्लेश-कशा-शताहतः
परिभ्रमन्निन्द्रिय-कापथान्तरे ।
नियम्यतां माधव मे ! मनोहय-
स्त्वदंघ्रिशङ्कौ दृढभक्तिबन्धने ।।६७।।

कस्यचित् ।

अतएव किसी परमदीन भक्त ने कहा है कि—हे हरे ! आपके सदृश तो कोई परमकारुणिक नहीं है और मुझसा भिन्न संसार में कोई अत्यन्त शोचनीय भी नहीं है, अतः हे यदुनाथ ! ऐसा विचार कर मुझ पामर के विषय में जो उचित हो वही कीजिये ।।६६।।

हे माधव ! मेरा मनरूपी घोड़ा इन्द्रियस्वरूप निन्दितमार्ग में घूमते-घूमते संसार से उत्पन्न सैंकड़ों क्लेशरूपी कोड़ों से प्रतिदिन ताड़ित हो रहा है, तथापि हमारा कहना नहीं मानता है । अतः प्रभो ! कृपया इस दुष्ट घोटक को दृढ़भक्तिरूप रज्जु के द्वारा अपने चरणारविन्दरूपी खूंटे में बाँध दीजिये ।।६७।।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

न ध्यातोऽसि न कीर्तितोऽसि न मनागाराधितोऽसि प्रभो !
नो जन्मान्तरगोचरे तव पदाम्भोजे च भक्तिः कृता ।
तेनाहं बहुदुःखभाजनतया प्राप्तो दशामीदृशीं
त्वं कारुण्यनिधे ! विधेहि करुणां श्रीकृष्ण ! दीने मयि ।।६८।।

श्रीशंकरस्य ।

पुष्पिताग्रा ।

शरणमसि हरे प्रभो मुरारे !
जय मधुसूदन वासुदेव विष्णो !
निरवधि कलुषाघकारिणं मां
गतिरहितं जगदीश ! रक्ष रक्ष ।।६९।।

कस्यचित् ।

श्रीशंकरजी भी अपनी दैन्योक्ति प्रदर्शित करते हैं कि—हे प्रभो ! इस जन्म में तो मैंने आपका किंचित् भी ध्यान, नामकीर्तन, आराधना नहीं किया, और पहले जन्मों में भी आपके श्रीचरणारविन्दों में भक्ति का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया, अतः मैं अनन्त दुःख भोगने का पात्र तो बन ही गया । इसी लिये मैं ऐसी दुर्दशा को प्राप्त हुआ हूँ । अतः हे करुणाकर श्रीकृष्ण ! आप ही मुझ दीन पर कृपादृष्टि कर दीजिये । उसी से ही आपकी दासी माया निवृत्त हो जायगी ।।६८।।

आर्तनाद से किसी भक्त ने कहा है कि—हे हरे ! हे प्रभो ! हे मुरारे ! आप ही मेरे आश्रय एवं रक्षक हैं । हे मधुसूदन ! हे वासुदेव ! हे विष्णो ! आपकी जय हो । मैंने निरन्तर अनन्त पातकपुञ्ज किये हैं, अतः मेरी क्या गति होगी, इसका भी ठिकाना नहीं है ? इस लिये हे जगदीश ! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ।।६९।।

भुजङ्गप्रयातम् ।

दिनादौ मुरारे ! निशादौ मुरारे !
दिनार्धे मुरारे ! निशार्धे मुरारे !
दिनान्ते मुरारे ! निशान्ते मुरारे !
त्वमेको गतिर्नस्त्वमेको गतिर्नः ॥७०॥

श्रीदाक्षिणात्यस्य ।

वियोगिनी ।

अयि नन्दतनूज ! किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ ।
कृपया तव पादपङ्कजस्थित-धूली-सदृशं विचिन्तय ॥७१॥

श्रीश्रीभगवतः ।

श्रीदाक्षिणात्य पण्डितराज भी कहते हैं कि—हे मुरारे ! प्रातःकाल, सायंकाल, दोपहर में, आधीरात में, दिनान्त में, निशान्त में, सर्वत्र सर्वदा एक आप ही हमारी गति हो। एक तुम ही हमारे प्राप्य हो ॥७०॥

भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु भी कहते हैं कि—हे नन्दनन्दन ! वस्तुतः मैं आपका नित्य किंकर हूँ, किन्तु अब निज कर्मदोष से विषय संसार-सागर में पड़ा हूँ। काम, क्रोध, मत्सरादि ग्राह मुझे निगलने को दौड़ रहे हैं। दुराशा दुश्चिन्ता की तरंगों में इधर-उधर बह रहा हूँ। कुसंगरूप प्रबल वायु और भी व्याकुल कर रहा है। ऐसी दशा में आपके बिना मेरा कोई आश्रय नहीं है। कर्म, ज्ञान, योग, तप आदिक तृण गुच्छों के समान इधर-उधर तैर रहे हैं, पर क्या उनका आश्रय लेकर कोई संसारसागर के पार जा सकता है ? हाँ कभी-कभी ऐसा तो होता है कि संसारसागर में डूबता हुआ जन उनको भी पकड़ कर अपने साथ डुबा लेता है। आपकी कृपा के बिना और कोई आश्रय नहीं हो सकता है। केवल आपका नाम ही ऐसी दृढ़ नौका है, जिसके आश्रय से यह जीव संसारसिन्धु को पार कर सकता है। पर उसका आश्रय

अथ भक्तानां निष्ठा ।

वियोगिनी ।

न वयं कवयो न तार्किका
न च वेदान्त-नितान्त-पारगाः ।
न च वादिनिवारकाः परं
कपटाभीरकिशोरकिङ्कराः ॥७२॥

श्रीसार्वभौमभट्टाचार्याणाम् ।

पुष्पिताग्रा ।

परिवदतु जनो यथा तथायं
ननु मुखरो न वयं विचारयामः ।
हरि-रस-मदिरा-मदातिमत्ता
भुवि विलुठाम नटाम निर्विशाम ॥७३॥

तेषामेव ।

मिले यह भी आपकी कृपा पर निर्भर है। आप शरणागतवत्सल हैं, मुझ अनाश्रित को अपने चरणकमलों में संलग्न रजकण के समान जानें, आपकी करुणा के बिना मुझ साधनशून्य का संसार से निस्तार का कोई उपाय नहीं है ॥७१॥

भक्तों की निष्ठा—

श्रीसार्वभौमभट्टाचार्य दो श्लोकों से अपनी निष्ठा प्रदर्शित करते हैं कि—हम न कवि हैं, न तार्किक, न वेदान्त शास्त्र के ही नितान्त पारंगत हैं, और न प्रतिवादियों के मत का ही हम निराकरण करने वाले हैं। हम तो केवल व्रजराजकुमार श्रीनन्दनन्दन के नित्य किंकर हैं ॥७२॥

निन्दकजन यदि हमारी यथा-तथा निन्दा करते हैं तो किया करो। इस बात पर हम किंचित् भी विचार नहीं करते हैं, कारण कि हम तो

मन्दाक्रान्ता ।

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नो वा वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा ।
किंतु प्रोद्यन्निखिल-परमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥७४॥

श्रीश्रीभगवतः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

धन्यानां हृदि भासतां गिरिवरप्रत्यग्रकुंजौकसां
सत्यानन्द-रसं विकार-विभव-व्यावृत्त-मन्तर्महः ।
अस्माकं किल वल्लवी-रतिरसो वृन्दाटवी-लालसो
गोपः कोऽपि महेन्द्रनीलरुचिरश्चित्ते मुहुः क्रीडतु ॥७५॥

श्रीईश्वरपुरीपादानाम् ।

श्रीहरिरसरूप मदिरा से अत्यन्त मत्त होकर भूमी में लोट-पोट हो जायेंगे, कभी नृत्य करेंगे, और कभी-कभी प्रेम से मूर्च्छित हो जायेंगे ।।७३।।

श्रीचैतन्यमहाप्रभु भी जीव का स्वरूप का निर्देश करते हैं कि— न मैं ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय, न वैश्य हूँ, न शूद्र, न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थी, न वानप्रस्थी हूँ, न सन्यासी, किन्तु निखिल परमानन्द परिपूर्ण, अमृतसागरस्वरूप, गोपीपति श्रीकृष्ण के चरणकमलों के दासों के दासों के दासानुदासों के भी एक छोटे से दास हूँ, अर्थात् जीवों का स्वरूप नित्य भगवद्दास है ।।७४।।

श्रीईश्वरपुरीजी की कैसी विचित्र लोकोत्तर निष्ठा है, यथा— पर्वतराज की विशुद्ध कुंजों में निवास करने वाले, निर्भेद ब्रह्मज्ञानी, धन्यमान्य, महापुरुषों के हृदय में विकार वैभव रहित, अन्तःकरण का

उपजातिः ।

रसं प्रशंसन्तु कवित्वनिष्ठा ब्रह्मामृतं वेदशिरोनिविष्टाः ।
वयं तु गुंजाकलितावतंसं गृहीतवंशं कमपि श्रयामः ॥७६॥

श्रीयादवेन्द्रपुरीपादानाम् ॥

मन्दाक्रान्ता ।

ध्यानातीतं किमपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं
तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्र आत्मा ।
अस्माकं तु प्रकृतिमधुरः स्मेरवक्त्रारविन्दो
मेघश्यामः कनक-परिधिः पङ्कजाक्षोऽयमात्मा ॥७७॥

श्रीकविरत्नस्य ॥

उत्सवस्वरूप यदि कोई अनिर्वचनीय सत्यानन्दरस प्रकाशित होता है तो होने दो, हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं । किन्तु हमारे हृदय में तो निश्चय ही गोपीरतिरसस्वरूप वृन्दावन विलासी, इन्द्रनीलमणिकान्ति-मनोहर, कोई गोप निरन्तर क्रीड़ा करता रहे ॥७५॥

श्रीयादवेन्द्रपुरीजी भी कहते हैं कि—कवित्वनिष्ठ व्यक्तिगण रस की और वेदान्तीजन ब्रह्मामृत की यदि भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं तो करते रहो, किन्तु हम तो गुञ्जाओं की माला आदि आभूषण धारण करने वाले एवं वंशी को स्वीकार करने वाले, किसी गोपकुमार का आश्रय ग्रहण करते हैं ॥७६॥

श्रीकविरत्नजी दो श्लोकों से कहते हैं कि—जो महात्मा ध्यानातीत, निर्विशेष किसी परमतत्त्व को जानते हैं, उनके हृदय विवर में शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा यदि उपस्थित होता है तो भले ही हो जाय, किन्तु हमारे हृदयप्राङ्गण में तो स्वभावतः मधुर, ईषद् हास्ययुक्त मुखारविन्द वाला, नूतन जलधर श्याम शरीर वाला, सुवर्णमय पीताम्बर धारी, कमलनयन, कोई ऐसा परमात्मा गोपगोपियों के साथ खेलता रहे ॥७७॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

जातु प्रार्थयते न पार्थिवपदं नैन्द्रे पदे मोदते
सन्धत्ते न च योगसिद्धिषु धियं मोक्षं च नाकांक्षति ।
कालिन्दीवनसीमनि स्थिरतडिन्मेघद्युतौ केवलं
शुद्धे ब्रह्मणि वल्लवीभुजलताबद्धे मनो धावति ॥७८॥

तस्यैव ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

सन्ध्यावन्दन ! भद्रमस्तु भवते भोः स्नान ! तुभ्यं नमो
भो देवाः ! पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम् ।
यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तंसस्य कंसद्विषः
स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे ? ॥७९॥

श्रीमाधवेन्द्रपुरीपादानाम् ।

हमारा मन कभी भी चक्रवर्तीपद को नहीं चाहता, इन्द्र पदवी पर भी प्रसन्न नहीं होता, योग सिद्धियों में भी बुद्धि को नहीं लगाता, एवं मोक्ष की भी आकांक्षा नहीं करता, किन्तु केवल श्रीयमुना नदीयुक्त श्रीवृन्दावन की सीमा में स्थिर बिजलीयुक्त मेघ की सी कान्ति वाले, गोपियों की भुजलता में बँधे हुए, अर्थात् गोपीगणालिङ्गित किसी अनिर्वचनीय शुद्ध ब्रह्म की ओर भागता रहता है ॥७८॥

श्रीमाधवेन्द्रपुरीजी कहते हैं कि—हे संध्यावन्दन ! आपका कल्याण हो । हे स्नान ! आपको मेरा नमस्कार है । हे देवताओ और पितरो ! मैं आपके तर्पण करने में अब समर्थ नहीं, अतः क्षमा करें । कारण कि अब तो मेरी यह स्थिति हो गई है कि, जहाँ कहीं भी एकान्त स्थान में बैठकर यादवकुलमुकुटमणि, कंसारि श्रीकृष्ण का बारंबार स्मरण करता हुआ पाप रहित हो जाऊँगा । श्रीकृष्ण स्मरण से ही मैं अपने को धन्य मानता हूँ । अन्य साधनों से मुझे कोई प्रयोजन भी नहीं है ॥७९॥

रथोद्धता ।

देवकीतनयसेवकीभवन्
यो भवानि स भवानि किं ततः ?
उत्पथे क्वचन सत्पथेऽपि वा
मानसं व्रजतु दैवदेशितम् ॥८०॥

कस्यचित् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

मुग्धं मां निगदन्तु नीतिनिपुणा भ्रान्तं मुहुर्वैदिका
मन्दं बान्धवसञ्चया जडधियं मुक्तादरा: सोदरा: ।
उन्मत्तं धनिनो विवेकचतुरा: कामं महादाम्भिकं
मोक्तुं न क्षमते मनागपि मनो गोविन्दपादस्पृहाम् ॥८१॥

श्रीमाधवस्य ।

निष्ठापरायण किसी भक्त ने कहा है कि—मैं देवकीनन्दन का सेवक बनकर उनकी इच्छा से जो भी पशु पक्षि मनुष्य आदि बन जाऊँ, उससे मेरी कुछ हानि नहीं है । और उन्हीं की प्रेरणा से मेरा मन उत्पथ में जाय, चाहे सन्मार्ग में जाय और उसका क्या परिणाम होगा इसकी भी मुझे परवाह नहीं । भक्त का केवल सेवक होना ही मुख्य लक्ष्य है ।।८०।।

श्रीमाधव नामक कविराज कहते हैं कि—नीतिनिपुण व्यक्तिगण यदि मुझको मुग्ध कहते हैं तो यथेष्ट कहो, और वैदिकजन मुझको बारंबार भ्रान्त, सब बान्धव मन्द, सब सहोदर भाई आदर त्याग कर यह जड़बुद्धि है ऐसा यदि कहते हैं तो कहो, एवं धनीलोग मुझको उन्मत्त, विवेकचतुर व्यक्ति मुझे महादाम्भिक यदि कहते हैं तो कहो, तथापि हमारा मन श्रीगोविन्द भगवान् के पदारविन्दों की लालसा को त्यागने में समर्थ नहीं है ।।८१।।

अनुष्टुभ् ।

श्याममेव परं रूपं पुरी मधुपुरी परा ।
वयः कैशोरकं ध्येयमाद्य एव परो रसः ॥८२॥

श्रीरघुपत्युपाध्यायस्य ।

आर्या ।

पुरतः स्फुरतु विमुक्तिश्चिरमिह राज्यं करोतु वैराज्यम् ।
पशुपालबालकपतेः सेवामेवाभिवाञ्छामि ॥८३॥

श्रीसुरोत्तमाचार्यस्य ।

श्रीरघुपति उपाध्याय भी कहते हैं कि—हमारे मत में तो श्यामरूप ही सर्वश्रेष्ठ रूप है। मथुरापुरी ही सर्वश्रेष्ठ पुरी है । भगवान् की किशोरावस्था का ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ है। और शृङ्गाररस ही उत्कृष्ट रस है ॥८२॥

श्रीसुरोत्तमाचार्यजी भी अपनी निष्ठा प्रदर्शित करते हैं कि—सार्ष्टि, सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य ये पाँच प्रकार की मुक्तियाँ भी मेरे सामने मूर्तिमती होकर यदि मुझे प्रसन्न करने के लिये नृत्य करती हैं तो करती रहो । अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्वादि अष्ट सिद्धियाँ भी यदि मेरे सामने उपस्थित होती हैं तो उनसे भी मेरा यही कहना है कि, आप अपने राज्यसिंहासन पर बिराजी रहो । हमें आप से प्रयोजन नहीं है । कारण कि मैं तो केवल गोपबालकशिरोमणि श्रीनन्दलालजी की सेवा ही करना चाहता हूँ ॥८३॥

वसन्ततिलकम् ।

क्षौणीपतित्वमथवैकमकिञ्चनत्वं
नित्यं ददासि बहुमानमथापमानम् ।
वैकुण्ठवासमथ वा नरके निवासं
हा वासुदेव ! मम नास्ति गतिस्त्वदन्या ॥८४॥

श्रीगर्भकवीन्द्रस्य ।

उपगीति आर्या ।

दिशतु स्वाराज्यं वा वितरतु तापत्रयं वापि ।
सुखितं दुःखितमपि मां न विमुञ्चतु केशवः स्वामी ॥८५॥

श्रीकविराजमिश्रस्य ।

अथ भक्तानां सौत्सुक्यप्रार्थना ।

रथोद्धता ।

नन्दनन्दन-पदारविन्दयोः स्यन्दमान-मकरन्दबिन्दवः ।
सिन्धवः परमसौख्यसम्पदां नन्दयन्तु हृदयं ममानिशम् ॥८६

श्रीकराचार्याणाम् ।

श्रीगर्भकवीन्द्र कहते हैं कि—हे भगवन् ! आप मुझे पृथिवीपति बना दीजिये, चाहे परम दरिद्र । नित्य सम्मान प्रदान कीजिये, अथवा अपमान । और वैकुण्ठ में वास दीजिये, चाहे नरक में पटकिये, परन्तु हे वासुदेव ! आप से भिन्न मेरी तो और कोई गति नहीं है ॥८४॥

श्रीकविराजमिश्र भी कहते हैं कि—केशव भगवान् मुझे स्वर्ग का राज्य दें, चाहे आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक ये तीनों ताप, और चाहे मुझे सुखी करें या दुःखी, परन्तु अपनी सेवा से मुझे पृथक् न करें ॥८५॥

भक्तों की उत्सुकतामयी प्रार्थना—

श्रीकराचार्यपाद कहते हैं कि—**परमानन्द सम्पत्ति** के **समुद्रस्वरूप**

उपगीति आर्या ।

इह वत्सान् समचारयदिह नः स्वामी जगौ वंशीम् ।
इति सास्रं गदतो मे यमुनातीरे दिनं यायात् ॥८७॥

श्रीरघुपत्युपाध्यायस्य ।

औपच्छन्दसिकम् ।

अनुशीलित-कुंजवाटिकायां
जघनालम्बित-पीतशाटिकायाम् ।
मुरलीकलकूजिते रतायां
मम चेतोऽस्तु कदम्ब-देवतायाम् ॥८८॥

श्रीगोविन्दस्य ।

वसन्ततिलकम् ।

आरक्तदीर्घनयनो नयनाभिरामः
कन्दर्पकोटिललितं वपुरादधानः ।
भूयात् स मेऽद्य हृदयाम्बुरुहाधिवर्ती
वृन्दाटवीनगरनागरचक्रवर्ती ॥८९॥ श्रीभवानन्दस्य ।

जो मकरन्द (पुष्परस) बिन्दु श्रीनन्दनन्दन के पदारविन्दों से टपक रहे हैं, वे मेरे हृदय को निरन्तर आनन्दित करते रहें ॥८६॥

श्रीरघुपति उपाध्याय कहते हैं कि—हमारे स्वामी श्रीकृष्णचन्द्र ने इस स्थान पर वत्सचारण किया है, और इस स्थान पर भुवनमोहिनी

दिन व्यतीत हो जायँ ॥८७॥

श्रीगोविन्द कवि भी कहते हैं कि—जो निरन्तर निकुंजवाटिका में भ्रमण करती रहती है, जो कटिप्रदेश में पीली साड़ी पहने हुए है, और जो मधुर मुरली बजाने में ही निरत रहती है, ऐसी कदम्ब देवता में हमारा मन लगा रहे ॥८८॥

उपगीति आर्या ।

लावण्यामृतवन्या मधुरिम-लहरीपरीपाकः ।
कारुण्यानां हृदयं कपटकिशोरः परिस्फुरतु ॥९०॥

श्रीसार्वभौमभट्टाचार्याणाम् ।

अनुष्टुभ् ।

भवन्तु तत्र जन्मानि यत्र ते मुरलीकलः ।
कर्णपेयत्वमायाति किं मे निर्वाणवार्तया ? ॥९१॥

तेषामेव ।

श्रीभवानन्दजी कहते हैं कि—जिनके विशाल लोचन किंचित् रक्त वर्ण के हैं, जो दर्शकों के मनोहर हैं, कोटि कामदेव से भी सुन्दर श्रीविग्रह धारण किये हुए हैं, वही श्रीवृन्दावन नगर के नागर चक्रवर्ती आज मेरे हृदयकमलरूपी राज्यसिंहासन पर कृपया आ बिराजें ॥८९॥

श्रीसार्वभौमभट्टाचार्य भी दो श्लोकों से कहते हैं कि—जो सौन्दर्यामृत नदी की परम मधुर लहरों के सारस्वरूप हैं, एवं जिनका हृदय करुणा से परिपूर्ण है, ऐसे छलिया नन्दकिशोर मेरे दृष्टि गोचर होते रहें ॥९०॥

और हे भगवन् ! आपके श्रीचरणों में मेरी तो यही विनम्र प्रार्थना है कि, जिस स्थान पर आपकी मुरली का मधुर रव सुनाई पड़ता है, उस स्थान पर ही हमारे बारंबार जन्म होते रहें । आपकी सेवा रहित सूखी मोक्ष की कहानी से मुझे क्या प्रयोजन ? ॥९१॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

आस्वाद्यं प्रमदारदच्छदमिव श्रव्यं नवं जल्पितं
बालाया इव दृश्यमुत्तमवधूलावण्यलक्ष्मीरिव ।
प्रोद्घोष्यं चिरविप्रयुक्तवनिता-सन्देशवाणीव मे
नैवेद्यं चरितं च रूपमनिशं श्रीकृष्ण ! नामास्तु ते ॥९२॥

केषांचित् ।

कोई भक्तराज कहते हैं कि—हे श्रीकृष्ण ! आपका प्रसाद, आपका विशुद्ध चरित, आपका निखिलभुवन मोहनरूप, और नन्दनन्दन इत्यादि आपके अनन्त नाम, ये चारों वस्तुयें मेरी इस प्रकार सेवनीय हो जायँ, कि कामीजन जिस प्रकार बारंबार स्वाद ले लेकर कामिनी के अधरामृत का आस्वाद लेते हैं, उसी प्रकार भावपूर्वक आपके प्रसाद का सेवन किया करूँ । और लज्जाशील नवविवाहिता बालिका के वचनों को जैसे उसका पति बड़े प्यार से सुनता है, उसी प्रकार आपके मङ्गलमय चरित्रों को बड़े ध्यान एवं गौरव से सुना करूँ । और जैसे परमसुन्दरी नवविवाहिता ब्याहुली के मुख सौन्दर्य को देखने के लिये सभी नागरिक नरनारी लालायित रहते हैं, उसी प्रकार मैं लोकोत्तर सुन्दर आपके रूप का नखशिख दर्शन किया करूँ । और जैसे अपने पति से बहुत दिन से बिछुड़ी हुई सती वनिता अपने पति के द्वारा प्राप्त सन्देश को बारंबार अपनी अन्तरंग सखियों से कहती रहती हैं, एवं उसी पति-सन्देश को पुनः उन सखियों के मुख से सुनकर हृदय में बड़ी प्रसन्न होती है, उसी प्रकार मैं आपके अनन्य सेवकों के सामने आपका मधुर नाम कीर्तन किया करूँ, एवं नाम–रसिक उन भक्तों के श्रीमुख से श्रवण किया करूँ । यही मेरी आपके श्रीचरणों में विनम्र प्रार्थना है स्वीकार कीजिये प्रभो ! ॥९२॥

वियोगिनी ।

नयनं गलदश्रु-धारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति ? ॥९३॥

श्रीश्रीभगवतः ।

वियोगिनी ।

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश ! कामये ।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥९४॥

श्रीश्रीभगवतः ।

उपजातिः ।

गोवर्धनप्रस्थ-नवाम्बुवाहः कलिन्दकन्या-नवनीलपद्मम् ।
वृन्दावनोदार-तमालशाखी तापत्रयस्याभिभवं करोतु ॥९५॥

श्रीगौडीयस्य ।

श्रीचैतन्यमहाप्रभु भी दो श्लोकों से कहते हैं कि—हे प्रभो ! आपका नाम ग्रहण करते समय मेरे नयन अश्रुधारा से, मेरा मुख गद्गद वाणी से और मेरा शरीर पुलकावलियों से कब व्याप्त होगा ? ॥९३॥

हे जगदीश ! मैं न धन चाहता हूँ, न जन चाहता हूँ, न सुन्दर कविता ही चाहता हूँ। चाहता हूँ केवल, हे प्राणेश्वर ! आपके श्रीचरण-कमलों में मेरी जन्म जन्म में अहैतुकी भक्ति हो ॥ ९४ ॥

कोई श्रीगौड़ीय भक्त भी प्रार्थना करता है कि—जो श्रीगोवर्धन पर्वत की समतल भूमि का नवीन मेघ है, श्रीयमुनाजी का जो नवीन नील कमल है, और श्रीवृन्दावन का जो परम उदार तमालवृक्ष है, अर्थात् इस रूपकालंकार का विषय जो श्रीहरि है, वह हमारे तीनों तापों को परास्त कर दें ॥९५॥

पृथ्वी ।

अनङ्गरस-चातुरी-चपल-चारु-नेत्राञ्चल-
श्चलन्मकरकुण्डल-स्फुरितकान्ति-गण्डस्थलः ।
व्रजोल्लसित-नागरीनिकर-रासलास्योत्सुकः
स मे सपदि मानसे स्फुरतु कोऽपि गोपालकः ॥९६॥

श्रीमाधवेन्द्रपुरीपादानाम् ।

अथ भक्तानामुत्कण्ठा ।

उपगीति आर्या ।

श्रुतयः पलालकल्पाः किमिह वयं साम्प्रतं चिनुमः ?
अह्रियत पुरैव नयनैराभीरीभिः परं ब्रह्म ॥९७॥

श्रीरघुपत्युपाध्यायस्य ।

आर्या ।

कं प्रति कथयितुमीशे संप्रति को वा प्रतीतिमायातु ?
गोपतितनयाकुंजे गोपवधूटीविटं ब्रह्म ॥९८॥ तस्यैव ।

श्रीमाधवेन्द्रपुरीपाद भी कहते हैं कि—अनंगरस चातुरी से जिसके चारु नेत्रांचल चंचल हैं, हिलते हुए मकराकृत कुण्डलों की परछाई जिसके दोनों कपोलों में प्रतिबिम्बित हो रही है, और जो व्रज की आनन्दमयी गोपियों के साथ रास विलास करने को समुत्सुक है, ऐसा कोई अनिर्वचनीय गोपाल शीघ्र ही हमारे मनमन्दिर में आ बिराजे ॥९६॥

भक्तों की उत्कण्ठा—

श्रीरघुपति उपाध्यायजी दो श्लोकों से कहते हैं कि—श्रुतियाँ तो अब तण्डुल रहित धान के भुस के बराबर हैं। इनमें से अब हम क्या ढूँढ़ निकालें ? कारण कि इन श्रुतियों का प्रतिपाद्य जो ब्रह्म है, उसको तो गोपियों ने पहले ही नेत्रों द्वारा निकाल लिया। तात्पर्य यह है कि, अब सूखे ब्रह्मज्ञानी बनने से तो उस ब्रह्म की प्राप्ति होती नहीं, अतः गोपियों का आनुगत्य स्वीकार करने से ही उस ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है ॥९७॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

ज्ञातं काणभुजं मतं परिचितैवान्वीक्षिकी शिक्षिता
मीमांसा विदितैव सांख्यसरणिर्योगे वितीर्णा मतिः ।
वेदान्ताः परिशीलिताः सरभसं किं तु स्फुरन्माधुरी-
धारा काचन नन्दसूनुमुरली मच्चित्तमाकर्षति ॥९९॥

श्रीसार्वभौमभट्टाचार्याणाम् ।

औपच्छन्दसिकम् ।

अमरीमुखसीधुमाधुरीणां
लहरी काचन चातुरी कलानाम् ।
तरलीकुरुते मनो मदीयं
मुरलीनादपरम्परा मुरारेः ॥१००॥ तेषामेव ।

मैं इस रहस्य की बात को किसी के प्रति कहने को समर्थ भी नहीं हूँ। और भक्ति के अनुराग से रहित ऐसा कौन है,-जो मेरी इस बात पर विश्वास करेगा ? मैं तो कहता हूँ कि, निखिल श्रुतिशास्त्र प्रति-पाद्य वह परंब्रह्म श्रीयमुनातीरस्थ निकुंज में गोपवधूटी श्रीराधिकाजी के समीप में सदैव विराजमान रहता है ॥९८॥

श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यजी भी दो श्लोकों से कहते हैं कि—कणाद ऋषि प्रणीत वैशेषिक शास्त्र के मत का भी मुझे अच्छा ज्ञान है। गौतम मुनि प्रणीत न्याय शास्त्र से भी मैं अच्छी तरह से परिचित हूँ। जैमिनी ऋषि प्रणीत पूर्व मीमांसा शास्त्र की शिक्षा भी मैंने भली प्रकार से प्राप्त की है। कपिलदेव प्रणीत सांख्य शास्त्र के मार्ग को भी मैंने अच्छी प्रकार से जान लिया है। पतञ्जलि महर्षि रचित योग शास्त्र में भी मैंने अपनी बुद्धि को खूब लगाया। भगवान् श्रीवेदव्यास प्रणीत उत्तर मीमांसात्मक वेदान्त शास्त्र का भी विशेष रूपेण अनुशीलन किया, अर्थात् मैंने विधिपूर्वक छहों शास्त्रों का अध्ययन किया, किन्तु मेरा मन किसी शास्त्र में आकृष्ट नहीं हुआ। परन्तु क्या करूँ ? अब तो माधुर्य

मालिनी ।

अपहरति मनो मे कोऽप्ययं कृष्णचौरः
प्रणत-दुरित-चौरः पूतना-प्राणचौरः ।
वलय-वसन-चौरो बालगोपीजनानां
नयन-हृदय-चौरः पश्यतां सज्जनानाम् ॥१०१॥

कस्यचित् ।

पृथ्वी ।

अलं त्रिदिववार्तया किमिति सार्वभौमश्रिया
विदूरतरवर्तिनी भवतु मोक्षलक्ष्मीरपि ।
कलिन्दगिरिनन्दिनी-तटनिकुंजपुंजोदरे
मनो हरति केवलं नवतमालनीलं महः ॥१०२॥

श्रीहरिदासस्य ।

धारामयी, नन्दगोपकुमार के मुंह लगी मुरली नाम की कोई दूतिका हठात् मेरे चित्त को अपनी ओर आकर्षित कर रही है ॥९९॥

स्वर्गीय देवाङ्गनाओं के मुखस्वाद के लिये जो अमृत माधुरी की लहरीस्वरूप है, अर्थात् जिस मधुर ध्वनि का पान करने पर देवाङ्गनायें अमृत भी नहीं पीना चाहतीं और जो चौसठ कलाओं के चातुर्य को तिरस्कृत कर देने वाली है, अर्थात् चौसठ कलाओं का विद्वान् भी जिस ध्वनि के सामनें अपने चातुर्य को खो बैठता है, एवंगुण विशिष्टा भगवान् मुरारि की मुरलीनाद परम्परा मेरे मनको चंचलित कर रही है। इस श्लोक में भगवान् की मुरली की ध्वनि की विशेषता का वर्णन है ॥१००॥

उत्कण्ठापरायण कोई भक्तराज भी कहते हैं कि—जो शरणागतों के पापों का चोर, पूतना के प्राणों का चोर, पाँच वर्ष की गोपकुमारियों के कंकण व वस्त्रों का चोर, दर्शन करने वालों के नयन एवं हृदय का

आर्या ।

अवलोकितमनुमोदितमालिङ्गितमङ्गनाभिरनुरागैः ।
अधिवृन्दावनकुंजं मरकतपुंजं नमस्यामः ॥१०३॥

श्रीसर्वविद्याविनोदानाम् ।

अनुष्टुभ् ।

कदा द्रक्ष्यामि नन्दस्य बालकं नीपमालकम् ।
पालकं सर्वसत्त्वानां लसत्तिलकभालकम् ? ॥१०४॥

श्रीमाधवेन्द्रपुरीपादानाम् ।

चोर, ऐसा कोई चोरशिरोमणि काला चोर मेरे मन को हठात् छीनकर लिये जा रहा है ॥१०१॥

श्रीहरिदास नामक कवि भी कहते हैं कि—स्वर्ग सम्बन्धी बात-चीतों से मुझे क्या प्रयोजन ? सम्पूर्ण भूमि के आधिपत्य से मेरा क्या काम चलेगा ? मोक्षलक्ष्मी भी मुझसे दूर बैठी रहे, अर्थात् उसका तो मुझे नाम भी नहीं सुहाता । कारण कि, मेरे मन को तो केवल यमुना-तटवर्ती निकुञ्ज समूह में विराजमान नवतमालसदृश कोई नील तेज विशेष अपनी चकाचोंध में डालकर हर कर लिये जा रहा है ॥१०२॥

श्रीसर्वविद्याविनोद महाशय भी कहते हैं कि—गोपियों ने अनुराग-पूर्वक जिसका अवलोकन किया, और अन्य दर्शनार्थियों के लिये भी कृपापूर्वक जिसके दर्शन करने का अनुमोदन भी किया, अथवा अपनी अभिलाषा पूर्ति के लिये जिससे अनुमोदन करवा लिया, एवं प्रेमपूर्वक जिसका खूब आलिङ्गन किया, श्रीवृन्दावन की निकुञ्जों में विराजमान ऐसे मरकतमणि समूह को हम नमस्कार करते हैं, अर्थात् एवं गुण विशिष्ट श्रीकृष्ण को हम प्रणाम करते हैं ॥१०३॥

श्रीमाधवेन्दपुरीजी कहते हैं कि—जो कदम्ब की माला धारण किये हुए है, जो प्राणीमात्र का पालक है, और जिसका मस्तक कस्तूरी रचित तिलक से सुशोभित है, ऐसे नन्दलालका मैं कब दर्शन करूँगा ? ॥१०४॥

शिखरिणी ।

कदा वृन्दारण्ये मिहिरदुहितुः सङ्गमहिते
मुहुर्भ्रामं भ्रामं चरित-लहरीं गोकुलपतेः ।
लपन्नुच्चैरुच्चैर्नयनपयसां वेणिभिरहं
करिष्ये सोत्कण्ठो निबिडमुपसेकं विटपिनाम् ॥१०५॥

समाहर्तुः ।

शिखरिणी ।

दुरारोहे लक्ष्मीवति भगवतीनामपि पदं
दधाना धम्मिल्ले नटति कठिने योपनिषदाम् ।
रुतिर्वंशीजन्मा धृतमधुरिमा सा मधुरिपो-
रकस्मादस्माकं श्रुतिशिखरमारोक्ष्यति कदा ? ॥१०६॥

समाहर्तुः ।

श्रीरूप गोस्वामीजी दो श्लोकों से अपनी उत्कण्ठा प्रदर्शित करते हैं— श्रीयमुनाजी के सङ्ग से पूजित सुशोभित श्रीवृन्दावन में बारंबार भ्रमण करता हुआ, और श्रीगोकुलनाथजी की चरित्र लहरी का उच्चस्वर से गायन करता हुआ, प्रेमाश्रु प्रवाह से उत्कण्ठापूर्वक श्रीवृन्दावनीय वृक्षों का कब विशेष सिंचन करूँगा ? ॥१०५॥

और भगवती उपनिषदों के दुरारोह एवं शोभासम्पन्न कठिन वेणी (चुटिया) पर चरण धरकर जो नृत्य करती है, एवं श्रीकृष्ण की माधुर्यमयी वंशी से उत्पन्न वही सुमधुर ध्वनि हमारे कर्णयुगल शिखर पर कब पदार्पण करेगी ? अर्थात् पूर्वोक्त गुणयुक्त वंशीध्वनि हमको कब सुनने को मिलेगी ? हा प्रभो ! ऐसा सुअवसर कब उपस्थित होगा ? ॥१०६॥

इन्द्रवज्रा ।

उत्फुल्लतापिञ्छमनोरमश्री-
मातुः स्तनन्यस्तमुखारविन्दः ।
सञ्चालयन् पादसरोरुहाग्रं
कृष्णः कदा यास्यति दृक्पथं मे ? ॥१०७॥

कस्यचित् ।

रथोद्धता ।

रोहिणीरमणमण्डलद्युति-
द्रोहिणीं वदनकान्तिसन्ततिम् ।
कृष्ण ! नूतनतमालकोमलां
कोऽमलां तव तनुं च विस्मरेत् ॥१०८॥

कस्यचित् ।

वात्सल्यरस उपासक कोई भक्त कहता है कि—जिनके श्रीविग्रह की कान्ति प्रफुल्ल तमाल की सी है, और जिनका मुखारविन्द दुग्धपान की अभिलाषा से माता श्रीयशोदाजी के स्तनों पर विराजमान है, एवं स्तनपान करते समय दोनों चरणकमलों के अग्रभाग को जो हिला रहे हैं, ऐसे श्रीकृष्ण कब मेरे नेत्रमार्ग में पदार्पण करेंगे, अर्थात् श्रीकृष्ण की ऐसी झाँकी का मुझे कब दर्शन होगा ? ॥१०७॥

अन्य कोई भक्त भी कहता है कि—हे भगवन् श्रीकृष्ण ! जिसके मुखारविन्द की शोभाश्रेणी कोटि चन्द्रमण्डल की कान्ति का तिरस्कार करने वाली है, एवं जो स्वतः नूतन तमाल दल से भी कोमल है, ऐसी परम निर्मल, मायागन्ध शून्य, सच्चिदानन्दमयी आपकी मनमोहिनी मूर्ति को कौन भूल सकता है ? ॥ १०८ ॥

लीलाखेलः ।

बर्हापीडं मौलौ बिभ्रद्वंशीनादानातन्वन्
नानाकल्प-श्रीसम्पन्नो ग पस्त्रीभिः संवीतः ।
नेत्रानन्दं कुर्वन् कृष्ण ! त्वं चेदस्मान् वीक्षेथाः
सर्वे कामाः सम्पद्येरन्नस्माकं हृद्यासीनाः ॥१०९॥

श्रीसार्वभौमभट्टस्य ।

अथ मोक्षानादरः ।

अनुष्टुभ् ।

भक्तिः सेवा भगवतो मुक्तिस्तत्पदलङ्घनम् ।
को मूढो दासतां प्राप्य प्राभवं पदमिच्छति ? ॥११०॥

श्रीशिवमौनिनाम् ।

श्रीसार्वभौम भट्टजी भी कहते हैं कि—हे श्रीकृष्ण ! यदि आप मस्तक पर मयूर मुकुट धारण करते हुए, बंशीध्वनिका विस्तार करते हुए, अनेक अलंकारों की शोभा से सम्पन्न होकर, गोपियों से घिरे हुए हमारे नेत्रों को आनन्दित करते हुए, हमको यदि कृपादृष्टि पूर्वक तनिक भी देखलोगे तो हमारे हृदय में चिरकाल से उपस्थित सब मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे ॥१०९॥

अथ मोक्षानादरः—

भगवान् के अनन्य सेवक मोक्ष नहीं चाहते हैं । अतः श्रीशिवमौनीजी कहते हैं कि—श्रीभगवान् की सेवा का नाम ही भक्ति है, और उनकी सेवा का लंघन करना ही मुक्ति है । अतः भगवान् की सेवा को प्राप्त करके कौन मूढ़ सायुज्य मुक्ति चाहेगा ? ॥११०॥

अनुष्टुभ् ।

भवबन्धच्छिदे तस्यै स्पृहयामि न मुक्तये ।
भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते ॥१११॥

श्रीहनूमतः ।

अनुष्टुभ् ।

हन्त चित्रीयते मित्र ! स्मृत्वा तान् मम मानसम् ।
विवेकिनोऽपि ये कुर्युस्तृष्णामात्यन्तिके लये ॥११२॥

केषांचित् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

का त्वं मुक्तिरुपागतास्मि भवती कस्मादकस्मादिह
श्रीकृष्णस्मरणेन देव ! भवतो दासीपदं प्रापिता ।
दूरे तिष्ठ मनागनागसि कथं कुर्यादनार्यं मयि
त्वद् गन्धान्निज-नामचन्दनरसालेपस्य लोपो भवेत् ॥११३॥

कस्यचित् ।

अतः श्रीहनुमानजी भी कहते है कि—संसार का बन्धन काटने वाली उस मुक्ति को भी मैं नहीं चाहता, जिसमें हे राघवेन्द्र ! आप स्वामी हैं, मैं दास हूँ, इस भाव का लोप हो जाता है । आपकी सेवा का अभाव और स्वरूप का नाश करने वाली मुक्ति को मैं नहीं चाहता ॥१११॥

कोई महापुरुष अपने मित्र से कहते हैं कि—हे मित्र ! बड़े खेद की बात तो यह है कि, जो सारासार विवेकी होकर भी सायुज्य मुक्ति में तृष्णा करते हैं । हाय ! उनका स्मरण करके तो मेरा मन विस्मित हो जाता है ॥११२॥

अतः कोई नामनिष्ठ भक्त कहता है कि—प्रश्न—अरी तू कौन है ? उत्तर—मैं मुक्ति हूँ, सेवा में उपस्थित हूँ । प्र०—तो आप अकस्मात् यहाँ

अथ श्रीभगवद्धर्मतत्त्वम् ।

स्रग्धरा ।

अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धि-
र्विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः ।
श्रीविष्णोर्नाम्नि मंत्रे सकलकलुषहे शब्दसामान्यबुद्धि-
र्विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितर-समधीर्यस्य वा नारकी सः ॥११४

श्रीदाक्षिणात्यस्य ।

पर क्यों आई हो ? उ०—हे देव ! श्रीकृष्ण के स्मरण के प्रभाव से मैं आपके दासीपद को प्राप्त हुई हूँ, अतः आप मुझे अपनी सेवा में रख लीजिये । इस पर भक्त बोला—अरी ! दूर खड़ी रहे । नितान्त निरा-पराधी मुझ पर "भगवत्सेवा से विमुख करके" क्यों कुठाराघात कर रही है । तेरी तो सुगन्धी मात्र से ही हमारे नामरूपी चन्दनरस का लोप हो जायगा, अर्थात् तेरे को स्वीकार करने से न तो (मैं भगवद्दास हूँ) यह मेरा नाम रहेगा, न सेवायोग्य रूप रहेगा, और विशेष क्या कहूँ ? मैं जो अपने उपास्य श्रीकृष्ण के मङ्गलमय मधुर नामों का जो कीर्तन कर रहा हूँ, वह कीर्तनानन्द भी सारा धूर में मिल जायगा । अतः आप ही कृपया मेरे सामने से दूर हो जाओ ॥११३॥

अथ श्रीभगवद्धर्मतत्त्व का विवेचन—

श्रीदाक्षिणात्य पण्डित कहते हैं कि—जिस व्यक्ति की भगवत् प्रतिमा में साधारण शिला बुद्धि, श्रीगुरुदेव में साधारण नर बुद्धि, वैष्णव में जाति बुद्धि, विष्णु अथवा वैष्णवों के कलिमलनाशक चरणामृत में साधारण जल बुद्धि, समस्त पापनाशक भगवान् के नामरूप मन्त्र में सामान्य शब्द बुद्धि, एवं सर्वेश्वरेश्वर भगवान् विष्णु में अन्य देवता के समान बुद्धि है, वह निश्चय ही नारकी जीव है ॥११४॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

हत्यां हन्ति यदंघ्रिसङ्गतुलसी स्तेयं च तोयं पदो-
नैवेद्यं बहुमद्यपानदुरितं गुर्वङ्गनासङ्गजम् ।
श्रीशाधीनमतिः स्थितिर्हरिजनैस्तत्सङ्गजं किल्विषं
शालग्रामशिलानृसिंहमहिमा कोऽप्येष लोकोत्तरः ॥११५॥

श्रीआगमस्य ।

अथ नैवेद्यार्पणे विज्ञप्तिः ।

शिखरिणी ।

द्विजस्त्रीणां भक्ते मृदुनि विदुरान्ने व्रजगवां
दधिक्षीरे सख्युः स्फुटचिपिटमुष्टौ मुररिपो ! ।
यशोदायाः स्तन्ये व्रजयुवतिदत्ते मधुनि ते
यथासीदामोदस्तमिममुपहारेऽपि कुरुताम् ॥११६॥

श्रीरामानुजस्य ।

आगम वाक्य भी कहते हैं कि—जिनके चरणों पर चढ़ी हुई तुलसी सेवन करने वाले के ब्रह्महत्यादि पापों को नष्ट कर देती है, और जिनका चरणामृत सुवर्ण की चोरी के पाप को, एवं जिनका प्रसाद बहु मद्यपान जनित पाप को नष्ट कर देता है, एवं जिनके प्रति की हुई एकाग्रता गुरुपत्नी गमन जन्य पाप को भी नष्ट कर देती है, और शालग्राम सेवी भक्तों के सङ्ग में जो रहता है वह पूर्वोक्त चार महा पातकियों के संसर्ग से जायमान पाँचवाँ महापापी भी शुद्ध हो जाता है। ऐसे पूर्वोक्त गुण विशिष्ट पंच महा पातकियों का उद्धार करने वाले श्रीशालग्रामरूपी नृसिंह भगवान् की यह कोई लोकोत्तर महिमा है। इस श्लोक में शालग्राम की महिमा का वर्णन है ॥११५॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

या प्रीतिर्विदुरार्पिते मुररिपो ! कुन्त्यर्पिते यादृशी
या गोवर्धनमूर्ध्नि या च पृथुके स्तन्ये यशोदार्पिते ।
भारद्वाजसमर्पिते शबरिकादत्तेऽधरे योषितां
या वा ते मुनिभामिनीविनिहितेऽन्नेऽत्रापि तामर्पय ॥११७॥

कस्यचित् ।

भोग लगाते समय की प्रार्थना—

भगवान् को नैवेद्य अर्पण करके विनयपूर्वक प्रार्थना करते हुए श्रीरामानुजजी कहते हैं कि—हे मुररिपो ! मथुरा की ब्राह्मण पत्नियों द्वारा समर्पित भात में, श्रीविदुरजी के सागपात में, व्रज की गैयाओं के दधि दूध में, प्रिय मित्र सुदामा के मुट्ठीभर तण्डुलों में, श्रीयशोदाजी के स्तन के दूध में, एवं व्रज की गोपियों के द्वारा प्रेमपूर्वक समर्पित मिष्टान्न में पाते समय जैसा हर्ष आपके हृदय में उत्पन्न हुआ था, उसी हर्ष को मेरे द्वारा समर्पित इस उपहार में भी प्रगट कीजिये, अर्थात् पूर्वोक्त भक्तों की सामग्री को जैसे आपने प्रेमपूर्वक स्वीकार किया था, उसी प्रकार मेरे द्वारा समर्पित की हुई इस भोग सामग्री को भी कृपया हर्षपूर्वक स्वीकार कीजिये ॥११६॥

कोई दूसरा भक्त भी भगवान् को भोग लगाकर प्रार्थना करता है कि—हे मुरारे ! जो प्रीति विदुरार्पित अन्न में, श्रीकुन्तीजी द्वारा परोसे हुये पदार्थों में, श्रीगोवर्धन पूजा पर व्रजवासियों को द्वारा समर्पित विविध व्यञ्जनों में, सुदामाजी के चिड़वा में, श्रीयशोदाजी के द्वारा अर्पित स्तनदुग्ध में, श्रीभारद्वाज मुनि द्वारा समर्पित छप्पन भोगों में, भिलनी के बेरों में, व्रजगोपियों के अधरामृत में, याज्ञिक माथुर ब्राह्मणों की स्त्रियों द्वारा समर्पित लेह्य, चोष्य, खाद्य, पेय आदि चतुर्विध अन्न में

शार्दूलविक्रीडितम् ।

क्षीरे श्यामलयार्पिते कमलया विश्राणिते फाणिते
दत्ते लड्डुनि भद्रया मधुरसे सोमाभया लम्भिते ।
तुष्टिर्या भवतस्ततः शतगुणां राधानिदेशान्मया
न्यस्तेऽस्मिन् पुरतस्त्वमर्पय हरे ! रम्योपहारे रतिम् ॥११८

समाहर्तुः ।

अथ श्रीमथुरा-महिमा ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

हे मातर्मथुरे ! त्वमेव नियतं धन्यासि भूमीतले
निर्व्याजं नतयः शतं सविधयस्तुभ्यं सदा सन्तु नः ।
हित्वा हन्त नितान्तमद्भुतगुणं वैकुण्ठमुत्कण्ठया
त्वय्यम्भोजविलोचनः स भगवान् येनावतीर्णो हरिः ॥११९

कस्यचित् ।

समर्पित की थी, उसी प्रीति को मेरे द्वारा समर्पित इस नैवेद्य पर भी अर्पित कीजिये ॥११७॥

श्रीरूप गोस्वामीजी भी कहते हैं कि—हे हरे ! श्यामला नामकी सखी द्वारा अर्पित अधौटा दूध में, कमला नाम की गोपी के द्वारा समर्पित फेनी नामक मिठाई में, भद्रा के द्वारा दिये हुए लड्डुओं में, चन्द्रावली के दिये हुए मधुरस में आपको जो प्रसन्नता हुई थी, उससे सैकड़ों गुणी अधिक प्रीति मेरे द्वारा आपके सामने निवेदित इस रमणीय उपहार पर अर्पित करनी चाहिये । क्यों कि आपकी प्रिय श्रीराधिकाजी की आज्ञा से ये सामग्री लेकर मैं रूपमंजरी नाम की सखी आपकी सेवा में आई हूँ ॥११८॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

अत्रासीत् किल नन्दसद्म शकटस्यात्राभवद्भंजनं
बन्धच्छेदकरोऽपि दामभिरभूद् बद्धोऽत्र दामोदरः ।
इत्थं माथुरवृद्धवक्त्र-विगलत्पीयूषधारां पिब-
न्नानन्दाश्रुधरः कदा मधुपुरीं धन्यश्चरिष्याम्यहम् ।।१२०।।

श्रीकविशेखरस्य ।

अथ श्रीमथुरा महिमा--

कोई भक्त कविराज कहते हैं कि—हे मातः मथुरे ! इस भूमीतल पर तो एक आप ही विशेष धन्य हो । आपके लिये निष्कपट भाव से किये हुए हमारे सैंकड़ों प्रणाम सदैव स्वीकार हों । आप की धन्यता का विशेष कारण यह भी है कि, कमलनयन भगवान् वैकुण्ठनाथ भी अद्भुत गुण युक्त वैकुण्ठ को भी त्याग कर आप में ही अवतीर्ण हुए, अवतार लेकर सब भक्तों के दुःख हर लिये, अतः वे हरि भी कहाये ।।११६।।

भक्तवर श्रीकविशेखरजी कहते हैं कि--इस स्थान पर श्रीनन्दरायजी का महल था, इस स्थान पर शकट भंजन हुआ था, एवं जो प्राणीमात्र के मायाकृत बन्धन को काटने वाले हैं,वही भगवान् श्रीयशोदा जी के द्वारा प्रेमरज्जु से इस स्थान पर ऊखल में बंध गये थे । अतः उसी दिन से उनका एक नाम दामोदर भी पड़ गया । इस प्रकार मथुरा के बृद्ध महानुभावों के मुखारविन्द से निकलती हुई वाणीरूप अमृतधारा का अपने कानरूपी कटोरों में भर भर के पान करता हुआ, आनन्दाश्रु धारणपूर्वक, धन्यभाग्य होकर, कब श्रीमथुराजी में विचरण करूँगा ? १२०।।

वसन्ततिलकम् ।

यत्राखिलादिगुरुरम्बुजसम्भवोऽपि
स्तम्बात्मना जनुरनुस्पृहयाम्बभूव ।
चक्रध्वजांकुशलसत्पदराजिरम्या
सा राजतेऽद्य मथुरा हरिराजधानी ॥१२१॥

कस्यचित् ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

बीजं मुक्तितरोरनर्थपटलीनिस्तारकं तारकं
धाम प्रेमरसस्य वाञ्छितधुरासंपारकं पारकम् ।
एतद्यत्र निवासिनामुदयते चिच्छक्तिवृत्तिद्वयं
मथ्नातु व्यसनानि माथुरपुरी सा वः श्रियं च क्रियात् ॥१२२॥

समाहर्तुः ।

कोई कवि कहते हैं कि—जिस स्थान पर सकल लोक के आदि-गुरु कमल से उत्पन्न होने वाले श्रीब्रह्माजी ने भी तृण, गुल्म आदि रूप से जन्म धारण करने की अभिलाषा प्रगट की थी, वही हरि-राजधानी श्रीमथुरा भगवान् के प्राकट्य काल में उनके चरणचिह्न चक्र, ध्वजा, अंकुश, यव आदि से जैसी रमणीय रही होगी, मेरे लिये तो उनकी कृपा से आज भी वैसी ही देदीप्यमान दिखाई दे रही है। श्रीनारदजी ने चतुर्थस्कन्ध भागवत में ध्रुवजी के प्रति सत्ययुग में कहा था कि तुम श्रीमथुराजी में विद्यमान मधुवन में जाकर तप करो, वहाँ भगवान् सदैव विराजते हैं। इसी लिये आज भी प्रेमपरायण जीवों को मथुरा वैसी ही प्रभावशालिनी है ॥१२१॥

इस ग्रन्थ के संग्रहकर्ता श्रीरूप गोस्वामीजी भी दो श्लोकों से कहते कि—वह मथुरापुरी तुम्हारे समस्त दुःखों को दूर करदे, एवं सम्पत्ति

पुष्पिताग्रा ।

वितरति मुरमर्दनः प्रभुस्ते
न हि भजमानजनाय यं कदापि ।
वितरसि बत भक्तियोगमेतं
तव मथुरे ! महिमा गिरामभूमिः ॥१२३॥

तस्यैव ।

का विधान करदे । वह कैसी है कि, जिसमें निवास करने वालों के हृदय में ज्ञानशक्ति की दो बृत्तियाँ अनायास ही उदय हो जाती हैं। उनके नाम हैं—(१) तारक, और (२) पारक । तारक—मुक्तिरूप वृक्ष का बीज है, अर्थात् अनायास में मुक्ति प्रदान करता है, और अनर्थ परंपरा से जीव का निस्तार कर देता है । पारक—प्रेमरस का स्थान है, और वाञ्छित पदार्थ का देने वाला है । इसी लिये पद्मपुराण में कहा है कि—"तारकाज्जायते मुक्तिः प्रेमभक्तिस्तुपारकात्" ॥१२२॥

और हे मथुरे ! तुम्हारे स्वामी मुरारी भगवान् जिस प्रेमलक्षणा भक्तियोग को भजन करने वाले प्रत्येक भक्त को कदापि प्रदान नहीं करते, उसी भक्तियोग को आप अपने निवासियों के लिये अनायास प्रदान करती हो, अतः आपकी महिमा मन वाणी के अगोचर है। तात्पर्य यह है कि, मथुरा मण्डलान्तर्गत जन आज भी बहुधा प्रेम लक्षणा भक्ति परायण देखे जाते हैं ॥१२३॥

तोटकम् ।

श्रवणे मथुरा नयने मथुरा
वदने मथुरा हृदये मथुरा ।
पुरतो मथुरा परतो मथुरा
मधुरा मधुरा मथुरा मथुरा ॥१२४॥

श्रीगोविन्दमिश्राणाम् ।

अथ श्रीवृन्दाटवी-वन्दनम् ।

आर्या

त्वं भज हिरण्यगर्भं त्वमपि हरं त्वं च तत्परं ब्रह्म ।
विनिहितकृष्णानन्दामहं तु वृन्दाटवीं वन्दे ॥१२५॥

कस्यचित् ।

श्रीगोविन्द मिश्रजी कहते हैं कि—मेरे कानों में मथुरा का नाम ही सुनाई दे । नेत्रों में मथुरा की झाँकी बसी रहे । मुख में मथुरा का नाम रहे । मन में मथुरा का ध्यान रहे । आगे मथुरा, पीछे मथुरा रहे । मथुरा ही मधुर है । मथुरा ही मधुर है ।।१२४।।

अथ वृन्दाटवीवन्दना—

कोई भक्त कहता है कि—हे भाई ! तुम हिरण्यगर्भ का भजन करो, तुम श्रीशंकर का भजन करो । हे परंब्रह्मोपासक भाई ! तुम उस परंब्रह्म का ही भजन करो । किन्तु मैं तो जिसमें श्रीकृष्णानन्द रोम रोम में भरा हुआ है, उस श्रीवृन्दावन को नमस्कार करता हूँ, अर्थात् श्रीवृन्दावनरज की कृपा से ही कृष्णानन्द की प्राप्ति सुलभ है ।।१२५।।

अथ श्रीनन्द-प्रणामः ।

आर्या ।

**श्रुतिमपरे स्मृतिमितरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः ।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म ॥१२६॥**

श्रीरघुपत्युपाध्यायस्य ।

आर्या ।

**बन्धूकारुण-वसनं सुन्दरकूर्चं मुकुन्दहृतनयनम् ।
नन्दं तुन्दिलवपुषं चन्दनगौरत्विषं वन्दे ॥१२७॥**

समाहर्तुः ।

श्रीनन्दप्रणाम—

श्रीरघुपति उपाध्यायजी कहते हैं कि—संसार में जन्ममरण के भय से भीत कोई जन श्रुतियों का आश्रय लेते हैं, तो कोई स्मृतियों का और कोई महाभारत का ही सेवन करते हैं तो करो । परन्तु मैं तो उन श्रीनन्दरायजी की वन्दना करता हूँ कि, जिनकी पौरी में परंब्रह्म बालक बन कर खेल रहा है ।।१२६।।

श्रीरूप गोस्वामीजी भी कहते हैं कि—दुपहरिया नामक पुष्प के समान गुलाबी रंग के जिनके वस्त्र हैं, और जिनके दोनों भौंहों का मध्य भाग बड़ा ही सुन्दर है, तथा श्रीकृष्ण ने जिनके नेत्रों को हर लिया है, एवं जिनका उदर विशाल है, और श्रीविग्रह की कान्ति चन्दन के समान गौरवर्ण की है, ऐसे श्रीनन्दरायजी की मैं बारंबार वन्दना करता हूँ ।।१२७।।

अथ श्रीयशोदा-वन्दनम् ।

आर्या ।

अङ्कग-पङ्कजनाभां नव्यघनाभां विचित्ररुचिसिचयाम् ।
विरचित-जगत्प्रमोदां मुहुर्यशोदां नमस्यामि ॥१२८॥

समाहर्तुः ।

अथ श्रीकृष्णशैशवम् ।

उद्गीति आर्या ।

अतिलोहित-करचरणं मंजुल-गोरोचनातिलकम् ।
हठपरिवर्तितशकटं मुररिपुमुत्तानशायिनं वन्दे ॥१२९॥

कस्यचित् ।

श्रीयशोदावन्दन—

श्रीरूप गोस्वामीजी कहते हैं कि—जिनकी गोदी में पद्मनाभ श्रीकृष्णचन्द्र विराजमान हैं, जिनके शरीर की कान्ति नव जलधर के समान है, जिनके विचित्र मनोहर वस्त्र हैं, और जिन्होंने अपने प्रेम से प्रभु को प्रकटित कर जगत् को आनन्दित किया, उन श्रीयशोदाजी को मैं बारंबार प्रणाम करता हूँ ।।१२८।।

अथ श्रीकृष्ण शैशववर्णन—

कोई कविवर कहते हैं कि—जिनके हस्त और चरण अत्यन्त लाल-लाल हैं, ललाट पर मनोहर गोरोचना का तिलक विराजमान है, एवं जिन्होंने बलप्रकाशनपूर्वक हठात् शकट (गाड़ी) को पलट दिया, ऐसे ऊपर को चरण करके चित्त शयन करने वाले मुरारि को मैं नमस्कार करता हूँ ।।१२९।।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

अर्धोन्मीलितलोचनस्य पिबतः पर्याप्तमेकं स्तनं
सद्यः प्रस्तुतदुग्धदिग्धमपरं हस्तेन संमार्जतः ।
मात्रा चांगुलिलालितस्य वदने स्मेरायमाने मुहु-
र्विष्णोः क्षीरकणोरुधामधवला दन्तद्युतिः पातु वः ॥१३०॥

श्रीमङ्गलस्य ।

वसन्ततिलकम् ।

गोपेश्वरीवदन-फूत्कृति-लोलनेत्रं
जानुद्वयेन धरणीमनु सञ्चरन्तम् ।
कञ्चिन्नवस्मितसुधामधुराधराभं
बालं तमालदलनीलमहं भजामि ॥१३१॥

श्रीरघुनाथदासस्य ।

श्रीमङ्गल कवि कहते हैं कि—आधे नेत्र खोलकर श्रीयशोदाजी के स्तन पान करते हुए श्रीकृष्ण की तृप्ति के लिये यद्यपि एक ही स्तन पर्याप्त है, तथापि वात्सल्य स्नेह से शीघ्र ही दूध चुचा रहा है, जिससे ऐसे दूसरे स्तन को अपने हाथ से मार्जन कर रहे हैं, और श्रीयशोदाजी लालनपूर्वक जब ठोढी पर अंगुलियाँ रखती हैं तो, बारंबार ईषद् हास्य करते हुये श्रीकृष्ण के मुख में से दुग्धकण से भी अधिक धवल कान्ति वाली छोटे छोटे दाँतों की जो कान्ति प्रकाशित हो रही है, वह अज्ञानान्धकार से तुम सब ध्यानकर्ताओं की रक्षा करें ॥१३०॥

श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी कहते हैं कि—गोपेश्वरी श्रीयशोदाजी के मुख की फूत्कार से जिसके दोनों नेत्र चंचल हो रहे हैं, और जो दोनों घुटनों से भूमितल पर घुटवन विचरण कर रहे हैं, एवं जिसकी किंचित्

रथोद्धता ।

क्वाननं क्व नयनं क्व नासिका
क्व श्रुतिः क्व च शिखेति देशितः ।
तत्र तत्र निहितांगुलीदलो
बल्लवीकुलमनन्दयत् प्रभुः ॥१३२॥

श्रीकविसार्वभौमस्य ॥

अनुष्टुभ् ।

इदानीमङ्गमक्षालि रचितं चानुलेपनम् ।
इदानीमेव ते कृष्ण ! धूलिधूसरितं वपुः ॥१३३॥

श्रीसार्वभौमभट्टाचार्याणाम् ॥

नवीन हास्य सुधा से मुखकमल अतिशय मधुर प्रतीत हो रहा है, ऐसे किसी तमालदल सदृश नीलकान्ति वाले बालक विशेषका मैं भजन करता हूँ ॥१३१॥

श्रीकवि सार्वभौमजी भी कहते हैं कि—बालमूर्ति श्रीकृष्ण पर दुलार करती हुई गोपियाँ जब श्रीकृष्ण से यों कहती हैं कि, लालाजी ! तुम्हारा मुख कहाँ है ? नेत्र कहाँ हैं ? नासिका कहाँ है ? कान कहाँ हैं ? और तुम्हारी चुटिया कहाँ है ? तब प्रभु श्रीनन्दलालजी उस उस स्थान पर अपनी अंगुली धर धर कर सब गोपियों को आनन्दित कर देते हैं ॥१३२॥

श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यजी भी कहते हैं कि--श्रीयशोदाजी प्रणय कोपपूर्वक लाला से कहती हैं कि, अरे कृष्ण ! अभी तो तेरा अङ्ग प्रक्षालन (स्नान) कराया था, और अंगराग आदि किया था, एवं शृङ्गार किया था, और क्या आश्चर्य की बात है कि अभी तत्काल ही तुम्हारा शरीर धूल से धूंसरित हो गया है ? ॥१३३॥

रथोद्धता ।

पञ्चवर्षमतिलोलमङ्गणे धावमानमलकाकुलेक्षणम् ।
किङ्किणीवलयहारनूपुरै रंजितं नमत नन्दनन्दनम् ॥१३४॥

श्रीआगमस्य ।

अथ शैशवेऽपि तारुण्यम् ।

हरिणी ।

अधरमधरे कण्ठं कण्ठे सचाटु दृशौ दृशो-
रलिक-मलिके कृत्वा गोपीजनेन ससंभ्रमम् ।
शिशुरिति रुदन् कृष्णो वक्षःस्थले निहितश्चिरा-
न्निभृतपुलकः स्मेरः पायात् स्मरालसविग्रहः ॥१३५॥

श्रीदिवाकरस्य ।

श्रीआगम भी कहते हैं कि—हे वात्सल्यरस के उपासक भक्तो ! आप सब उस नन्दनन्दन को नित्य नमस्कार किया करो, जिसकी अवस्था पाँच वर्ष की है, जो श्रीयशोदाजी के आँगन में दौड़ता रहता है, अलकावलियों से नेत्र जिसके आकुल हैं, और जो कटिकिंकिणी, कडूला, हार, नूपुर आदि से सुशोभित है ॥१३४॥

शैशवता में भी तरुणता—

भगवान् के भक्त जिस जिस रूप का ध्यान करते हैं, भगवान् भी कृपावश उनको वैसा ही दर्शन देते हैं। अतः कुछ भक्त बालकपने में भी भगवान् की तरुणता का दर्शन करना चाहते हैं तो उनको प्रभु ऐसा भाव दर्शा देते हैं। इस विषय का वर्णन श्रीदिवाकरजी इस प्रकार करते हैं कि—वह श्रीकृष्ण हमारी रक्षा करें, जिसको शिशुभाव से रोते हुए

शार्दूलविक्रीडितम् ।

ब्रूमस्त्वच्चरितं तवाभि जननीं छद्मातिबालाकृते !
त्वं यादृग्गिरिकन्दरेषु नयनानन्दः कुरङ्गीदृशाम् ।
इत्युक्तः परिलेहनच्छलतया न्यस्तांगुलिः स्वानने
गोपीभिः पुरतः पुनातु जगतीमुत्तानसुप्तो हरिः ॥१३६॥

श्रीवनमालिनः ।

उपगीति आर्या ।

वनमालिनि पितुरंके रचयति बाल्योचितं चरितम् ।
नवनवगोपवधूटीस्मितपरिपाटी परिस्फुरति ॥१३७॥

श्रीमुकुन्दभट्टाचार्यस्य ।

देख खिलाने के लिये गोपियों ने जब प्यारपूर्वक अपने अधर पर अधर, कण्ठ पर कण्ठ, नयनों में नयन, ललाट में ललाट अर्पण करके चिरकाल तक जब अपने वक्षःस्थल पर धारण किया तो उनका शरीर पुलकावली युक्त हो गया, मुख मन्द मुसकानयुक्त हो गया, और कन्दर्पवेग से शरीर में आलस्य सा छागया ।।१३५।।

श्रीवनमाली नामक कविराज भी कहते हैं कि—शृङ्गाररस की उपासिका गोपिकायें बालरूप श्रीकृष्ण से कहती हैं कि, हे श्रीकृष्ण ! बाहर से तो आप छद्मवेष से बालक की सी आकृति बनाये बैठे हो, परन्तु श्रीगोवर्धन पर्वत की गुफाओं में तो मृगनयनी गोपियों को आनन्द प्रदान करते रहते हो, इन कपट छल की सारी बातों को हम तुम्हारी माता के सामने खोलकर सुना देंगी तो तुम सब सिटल्ली भूल जाओगे । गोपियों के ऐसा कहने पर उनके सामने ही चूषने के बहाने अपने मुख में अंगुली धरकर ऊपर को पाँव फैलाकर पलने में चित्त सो गये, वे ही श्रीहरि जगतीतल को पवित्र कर दें ।।१३६।।

गीति आर्या ।

नीतं नव-नवनीतं कियदिति कृष्णो यशोदया पृष्टः ।
इयदिति गुरुजनसविधे विधृतधनिष्ठापयोधरः पायात् ॥१३८॥
श्रीसारङ्गस्य ।

पृथ्वी ।

क्व यासि ननु चौरिके ! प्रमुषितं स्फुटं दृश्यते
द्वितीयमिह मामकं वहसि कंचुके कन्दुकम् ।
त्यजेति नवगोपिकाकुचयुगं निमथ्नन् बला-
ल्लसत्पुलकमण्डलो जयति गोकुले केशवः ॥१३९॥
श्रीदीपकस्य ।

श्रीमुकुन्द भट्टाचार्यजी कहते हैं कि—श्रीवनमाली भगवान् जब अपने पिताजी की गोद में बाल्योचित चरित्र करते हैं, तब नूतन नूतन अवस्था वाली गोपियों की हास्य परिपाटी प्रकटित होने लगी ॥१३७॥

श्रीसारङ्ग कवि कहते हैं कि—श्रीयशोदाजी ने श्रीकृष्ण से पूछा कि, लाला ! तैंने कितना टटका (ताजा) माखन लिया है ? ऐसा पूछने पर बूढ़े बड़ेन के समीप में ही धनिष्ठा का स्तन धारण करते हुए कहा कि, मा ! इतना माखन मैंने लिया है, वही श्रीकृष्ण तुम सबकी रक्षा करें। तात्पर्य यह है कि, श्रीहरि सब अवस्थाओं में सब भक्तों की भावना की रक्षा करने वाले हैं, यह इन बाल चरित्रों से प्रतीत हो रहा है, ऐसा जानना चाहिये ॥१३८॥

इसी लिये श्रीदीपक कविवर कहते हैं कि—अरी चोरी करने वाली गोपिके ! आनन्दपूर्वक कहाँ भागी जारही है ? जिस वस्तु की तैंने चोरी की है वह तो स्पष्ट ही दीख रही है । सुन, हमारी दो गेंद चुराकर तूने अपनी चोली में छिपा रक्खी हैं, उन दोनों को यहाँ छोड़

अथ गव्य-हरणम् ।

रथोद्धता ।

दूरदृष्ट-नवनीतभाजनं जानुचंक्रमणजातसंभ्रमम् ।
मातृभीति-परिवर्तिताननं केशवं किमपि शैशवं भजे ॥१४०॥

कस्यचित् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

संमुष्णन्नवनीतमन्तिकमणिस्तम्भे स्वबिम्बोद्गमं
दृष्ट्वा मुग्धतया कुमारमपरं सञ्चिन्तयन् शङ्कया ।
मन्मित्रं हि भवान् मयात्र भवतो भागः समः कल्पितो
मा मां सूचय सूचयेत्यनुनयन् बालो हरिः पातु वः ॥१४१॥

केषांचित् ।

जा । इस प्रकार कहते हुए बलपूर्वक नवीन गोपी के दोनों कुचों को मर्दन करते हुए श्रीहरि के अंग में पुलकावलियाँ छा गईं । ऐसे श्रीकेशव भगवान् गोकुल में विराजमान हैं ॥१३९॥

माखन-चोरी—

कोई कवि कहते हैं कि—मैं तो केशव की उस आश्चर्यमयी बाल्यावस्था का भजन करता हूँ, जिसमें बालकृष्ण भगवान् दूर से ही धरी हुई माखन की कोरी कमोरी को देखकर, दोनों घुटनों से टेढ़े मेढ़े चलते हुए उतावली कर रहे हैं, और यदि मैं चुराकर माखन खा लूँगा तो मैया मारेगी, इस भय से अपना मुख माता से दूसरी ओर कर लिया ॥१४०॥

अन्य कोई महापुरुष भी कहते हैं कि—श्रीकृष्ण अपने घर में माखन चोरी करते करते, निकटवर्ती मणि के खम्भे में अपना प्रतिबिम्ब देख कर, बाल्यसुलभ मुग्धता के कारण शंकित हो प्रतिबिम्ब को

मालिनी ।

दधिमथननिनादैस्त्यक्तनिद्रः प्रभाते
निभृतपदमगारं बल्लवीनां प्रविष्टः ।
मुखकमलसमीरैराशु निर्वाप्य दीपान्
कवलितनवनीतः पातु मां बालकृष्णः ॥१४२॥ कस्यचित् ।

मन्दाक्रान्ता ।

सव्ये पाणौ नियमित-रवं किङ्किणीदाम धृत्वा
कुब्जीभूय प्रपदगतिभिर्मन्दमन्दं विहस्य ।
अक्ष्णोर्भङ्ग्या विहसितमुखीर्वारयन् सम्मुखीना
मातुः पश्चादहरत हरिर्जातु हैयङ्गवीनम् ॥१४३॥
श्रीश्रीमतः ।

ही दूसरा बालक समझ कर बोले कि,अरे भाई ! तू तो मेरा पुराना मित्र है, मैंने तो तेरा आधा भाग पहले ही निकाल कर धर दिया है,ले चुपचाप खाले यार ! किन्तु मैया से मेरी शिकायत न करना, नहीं तो मोय बहुत मारेंगी । इस प्रकार बारंबार अनुनय विनय करने वाले बाल-भगवान् तुम्हारी रक्षा करें ।।१४१।।

बालकृष्णोपासक और कोई भक्त भी कहता है कि—जो प्रभातकाल में दधिमन्थन ध्वनि से निद्रा को त्याग कर, चुपचाप धीरे धीरे आट खटका बचाय के गोपियों के घर में घुस गये, और अपने मुखकमल की वायु से शीघ्र ही दीपकों को बुझाकर माखन चुराकर चुपके से खाय गये, वे ही बालकृष्ण भगवान् मेरी रक्षा करें ।।१४२।।

श्रीश्रीमत नामक भक्त की उक्ति है कि—किसी एक दिन की बात है कि श्रीकृष्ण ने 'कहीं आट खटको न है जाय', इस ध्येय से अपनी कमर की किंकिणीयों की रस्सी अपने बाँये हाथ से पकड़ कर, शरीर को टेढ़ा

शिखरिणी ।

पदन्यासान् द्वाराञ्चलभुवि विधाय त्रिचतुरान्
समन्तादालोलं नयनयुगलं दिक्षु विकिरन् ।
स्मितं बिभ्रद् व्यक्तं दधिहरणलीलाचटुलधीः
सशङ्कं गोपीनां मधुरिपुरगारं प्रविशति ॥१४४॥ समाहर्तुः

स्रग्धरा ।

मृद्नन् क्षीरादिचौर्यान्मसृण-सुरभिणी सृक्कणी पाणिघर्षै-
राघ्रायाघ्राय हस्तं सपदि परुषयन् किङ्किणीमेखलायाम् ।
वारं वारं विशाले दिशि दिशि विकिरँल्लोचने लोलतारे
मन्दं मन्दं जनन्याः परिसरमयते कूट-गोपालबालः ॥१४५॥

कस्यचित् ।

करके, पंजेन की चाल से धीरे धीरे चलते चलते, मन्द मन्द मुसकाते हुए, एवं अपने नेत्रों के इशारे से मुख मुख में हँसने वाली सामने बैठी हुई गोपियों को निषेध करते हुए, माता की पीठ के पीछे से जाकर माखन चोरी करली ॥१४३॥

श्रीरूप गोस्वामीजी कहते हैं कि—अपने दरवाजे से तीन चार डग चल कर, चारों ओर चंचल नयनयुगल को फेंकते हुए, स्पष्ट मन्द मन्द मुसकाते हुए, दधिहरण लीला में सुचतुर बुद्धि वाले श्रीकृष्ण भय-पूर्वक गोपियों के घर में प्रवेश करते हैं ॥१४४॥

अन्य कविवर भी कहते हैं कि—दूध, दही, माखन आदि की चोरी के कारण, चीकने एवं सुगन्धित अपने दोनों ओष्ठ प्रान्तों को दोनों हाथों के घिस्से से मीड़ते हुए, और कहीं हाथों में सुगन्धी न रह जाय, इस ध्येय से बारंबार सूंघ कर, अपनी क्षुद्र घण्टिका की रस्सी में शीघ्र ही दोनों हाथों को घिसते हुए, एवं चंचल तारेन वारे अपने दोनों विशाल नेत्रों को दशों

अथ हरेः स्वप्नायितम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

शम्भो ! स्वागतमास्यतामित इतो वामेन पद्मोद्भव !
क्रौञ्चारे ! कुशलं सुखं सुरपते ! वित्तेश ! नो दृश्यसे ।
इत्थं स्वप्नगतस्य कैटभरिपोः श्रुत्वा जनन्या गिरः
किं किं बालक ! जल्पसीत्यनुचितं थूथूकृतं पातु वः ॥१४६॥

श्रीमयूरस्य ।

दिशाओं में फेंकते हुए, धूर्तगोपालबाल धीरे धीरे अपनी माता के पास आ रहे हैं ।।१४५।।

भगवान् का स्वप्न दर्शन—

महाकवि श्रीमयूरजी कहते हैं कि—एक दिन स्वप्न देखते हुए श्रीहरि कहते हैं कि, हे शंभो ! आपका स्वागत है, आप इधर मेरी दाहिनी ओर बैठ जाइये । हे ब्रह्मन् ! आपका भी स्वागत है, आप इधर बाँई ओर बैठ जाइये । हे स्वामि कार्तिकेय ! तुम्हारा कुशल तो है । हे इन्द्र ! सुखपूर्वक तो हो । हे कुबेर ! आप तो बहुत दिन से दीखते भी नहीं हो, क्या कारण है ? इस प्रकार स्वप्नगत श्रीहरि के वचनों को सुनकर विस्मित होकर श्रीयशोदाजी बोलीं—अरे लाला ! क्या अनुचित वाक्य बोल रहा है, ऐसा बोलने से कान पक जाते हैं । हाय हाय ! सोते सोते हुए भी मेरे लाल से क्या अलाय बलाय लग बैठी । ऐसे कहते हुए वात्सल्यमयी जननी ने लाला पर थूत्कार किया । वह निखिल कोटिब्रह्माण्ड रक्षक की रक्षापरायण श्रीयशोदाजी का थूत्कार तुम्हारी रक्षा करे ।।१४६।।

वसन्ततिलकम् ।

धीरा धरित्रि ! भव भारमवेहि शान्तं
नन्वेष कंसहतकं विनिपातयामि ।
इत्यद्भुतस्तिमित-गोपवधूश्रुतानि
स्वप्नायितानि वसुदेवशिशोर्जयन्ति ॥१४७॥

श्रीवसुदेवस्य ।

अथ पित्रोर्विस्मापन-शिक्षणादि ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

कालिन्दीपुलिने मया न न मया शैलोपशल्ये न न
न्यग्रोधस्य तले मया न न मया राधापितुः प्राङ्गणे ।
दृष्टः कृष्ण इतीरिते सनियमं गोपैर्यशोदापते-
र्विस्मेरस्य पुरो हसन्निजगृहान्निर्यन् हरिः पातु वः ॥१४८॥

श्रीउमापतिधरस्य ।

कवि श्रीवसुदेवजी भी कहते हैं कि—हे धरणि ! तुम धैर्य धारण करो। अपने भार को शान्त हुआ ही जानो। लो मैं अभी दुष्ट कंस को गिराये देता हूँ। इस प्रकार स्वप्नगत वसुदेव सुत के जिन वाक्यों को सुनकर गोपियाँ स्तम्भित हो जाती हैं, वे ही स्वप्नायित श्रीवसुदेव-नन्दन के वाक्य जययुक्त हैं ॥१४७॥

माता-पिता का विस्मापन शिक्षणादि—

श्रीउमापतिधर कहते हैं कि—श्रीकृष्ण के सखा गोष्ठ (खिड़क) में श्रीकृष्ण को न देखकर शीघ्र ही श्रीनन्दरायजी के निकट आकर पूछने लगे कि, बाबा ! श्रीकृष्ण घर में आ गये क्या ? तब श्रीनन्दजी बोले— वह अभी घर नहीं आया है। उसको तुम सब यमुनापुलिन आदि में ढूढ़ो। ऐसा कहने पर एक सखा बोला—बाबा ! मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि,

शार्दूलविक्रीडितम् ।

वत्स ! स्थावर-कन्दरेषु विचरन् दूरप्रचारे गवां
हिंस्रान् वीक्ष्य पुरः पुराणपुरुषं नारायणं ध्यास्यसि ।
इत्युक्तस्य यशोदया मुररिपोरव्याज्जगन्ति स्फुरद्-
बिम्बोष्ठद्वयगाढपीडनवशादव्यक्तभावं स्मितम् ॥१४९॥

श्रीअभिनन्दस्य ।

यमुना किनारे तो मैंने नहीं देखा । दूसरा बोला—मैंने श्रीगोवर्धन के निकटस्थलों में नहीं देखा। तीसरा बोला—बाबा ! मैं सौगन्द खाकर कहता हूँ कि, भाण्डीरवट में मैं ढूँढ़ते ढूँढ़ते हार गया पर कृष्ण वहाँ भी न देखा । चौथा बोला—मैं तो बरसाने से अभी आ रहा हूँ। बृषभानुजी के आँगन में भी नहीं देखा। ग्वारियाओं के ऐसा कहने पर श्रीनन्दजी के मुख पर जब अनिष्ट की आशंका से कुछ उदासी छाई, उसी समय सामने से हँसते हुए अपने घर से निकलते हुए जो श्रीकृष्ण दीखे, वह तुम्हारी रक्षा करें ॥१४८॥

कवि श्रीअभिनन्दजी कहते हें कि—श्रीयशोदाजी शिक्षा देती हैं कि, हे वत्स कृष्ण ! तू जब वृन्दावन में अथवा गोवर्धन की गुफाओं में गैया चराते चरांत यदि दूर चला जाय, और वहाँ यदि हिंसक जन्तु सिंह, व्याघ्रादि देखे तो देखते ही, हमारे इष्टदेव पुराणपुरुष भगवान् श्रीमन्नारायण का ध्यान कर लेना, सब आपत्ति दूर हो जायगी । श्रीयशोदाजी के ऐसे कहते ही खिले हुए दोनों ओठों के भीचने के कारण श्रीकृष्ण को अव्यक्त भाव की जो हँसी आई, वह जगत् की रक्षा करें। अर्थात् पूतनादिकों के मारने को देखकर भी मेरी शक्ति को न जानकर वात्सल्य स्नेह के कारण माता ऐसी शिक्षा दे रही है, अतः श्रीकृष्ण भीतर ही भीतर ओठ बन्द करके मुस्क्या गये ॥१४९॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

रामो नाम बभूव हुं तदबला सीतेति हुं तां पितु-
र्वाचा पंचवटीवने निवसतस्तस्याहरद्रावणः ।
कृष्णस्येति पुरातनीं निजकथामाकर्ण्य मात्रेरितां
सौमित्रे ! क्व धनुर्धनुर्धनुरिति व्यग्रा गिरः पान्तु वः ।।१५०।।

कस्यचित् ।

मन्दाक्रान्ता ।

श्यामोच्चन्द्र ! स्वपिषि न शिशो ! नैति मामद्य ! निद्रा
निद्राहेतोः शृणु सुत ! कथां कामपूर्वां कुरुष्व ।
व्यक्तः स्तंभान्नरहरिरभूद्दानवं दारयिष्य-
न्नित्युक्तस्य स्मितमुदयते देवकीनन्दनस्य ।।१५१।।

श्रीसर्वानन्दस्य ।

एक दिन कन्हैया बोले--मैया ! मोय एक पुरानी कहानी सुना दै, जासै नींद तौ भी आ जायगी । तब मैया बोली--दारीके ! जब नींद ही आ जायगी तो सुनेगौ कौन ? कन्हैयाजी बोले--ना मैया ! तेरी कहानी जब तक पूरी न होगी तब तक हूँकारी देतौ रहूँगो । उस कहानी को किसी कवि के पद्य से व्यक्त करते हैं, यथा--श्रीयशोदाजी बोलीं--लाला ! त्रेता में एक रामजी नाम के राजा हुए थे । श्रीकृष्ण बोले--हुँ । श्रीयशोदाजी बोलीं--उनकी धर्मपत्नी का नाम सीताजी था । श्रीकृष्ण बोले--हुँ । श्रीयशोदाजी बोलीं--पिताजी की आज्ञा से चतुर्दश वर्ष पर्यन्त वनवासपरायण उन रामजी की पत्नी सीताजी को रावण पंचवटी में निवास करते समय हर ले गया । श्रीकृष्ण माता के द्वारा कही हुई अपने पहले अवतार की कथा सुनकर रामभावावेश से बोले--हे लक्ष्मण ! हमारा धनुष कहाँ है ? धनुष कहाँ है ? धनुष कहाँ है ? इस प्रकार की भावावेश के कारण व्यग्रतामयी श्रीहरि की उक्तियां तुम्हारी रक्षा करें ।।१५०।।

अथ गोरक्षादि-लीला ।

स्रग्धरा ।

देवस्त्वामेकजङ्घावलयित-लगुडीमूर्ध्नि विन्यस्तबाहु-
र्गायन् गोयुद्धगीतीरुपरचितशिरःशेखरः प्रग्रहेण ।
दर्पस्फूर्जन्महोक्षद्वय-समरकलाबद्धदीर्घानुबन्धः
क्रीडागोपालमूर्तिर्मुररिपुरवतादात्तगोरक्षलीलः ॥१५२॥

श्रीयोगेश्वरस्य ।

श्रीयशोदाजी बोलीं—लाला कृष्ण ! रात्रि बहुत व्यतीत हो गई है, देख चन्द्रमा भी ऊपर चढ़ आया, तौ भी तू सोता क्यों नहीं है ? श्रीकृष्ण बोले—मैया ! आज मुझे निद्रा ही नहीं आती है । तब श्रीयशोदा बोलीं–तो बेटा ! नींद बुलाने के लिये कोई अपूर्व रमणीय कथा सुनो । श्रीकृष्ण बोले—सुना मैया ! मैया बोलीं—लाला ! प्रह्लाद नाम के एक प्रसिद्ध भक्तराज हुए हैं । उनके पिता हिरण्यकशिपुने उन्हें जब भारी कष्ट दिये, तब उनकी रक्षा के लिये भक्तवत्सल भगवान् उस दानव को मारते हुए, एवं भक्त की वाणी को सत्य करते हुए, खंभे से प्रगट हो गये । माता के ऐसा कहने पर श्रीयशोदानन्दन के मुखमण्डल पर मन्द मुस्क्यान छा जाती है । श्लोकगत देवकीनन्दन शब्दका यशोदा-नन्दन ही अर्थ है । "द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीति च" इस प्रमाण से व्यक्त है कि, श्रीनन्दरानी के दो नाम थे ॥१५१॥

अथ गोरक्षादि-लीला—

श्रीयोगेश्वरजी कहते हैं कि—जिनकी एक जंघा पर स्थित,वलयाकार टेढ़ी सी लकुटिया के मस्तक पर एक भुजा रक्खी है, और ज़ो साँड़ा को लड़ते समय उत्तेजित करने वाले गीत गाते गाते, गैयाओं की बाँधने की

मन्दाक्रान्ता ।

यावद्गोपा मधुरमुरलीनादमत्ता मुकुन्दं
मन्दस्पन्दैरहह सकलैर्लोचनैरापिबन्ति
गावस्तावन्मसृण-यवसग्रासलुब्धा विदूरं
याता गोवर्धनगिरिदरीद्रोणिकाभ्यन्तरेषु ॥१५३॥

श्रीकेशवच्छत्रिणः ।

अथ गोपीनां प्रेमोत्कर्षः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

धैर्यं मान-परिग्रहेऽपि जघने यच्चांशुकालम्बनं
गोपीनां च विवेचनं निधुवनारम्भे रहोमार्गणम् ।
साध्वीसच्चरितं विलासविरतौ पत्युर्गृहान्वेषणं
तत्तद्गौरवरक्षणं मुररिपोर्वंशीरवापेक्षणम् ॥१५४॥

श्रीसर्वविद्याविनोदानाम् ।

रस्सी से ही अपना मुकुट बनाये हुए हैं, एवं युद्ध के गायन सुनकर जिनको अहंकार उत्पन्न हुआ, ऐसे बलशाली दो साँड़ों की युद्धकला में जिनका विशेष आग्रह है, अर्थात् जिनको साँड़ों की लड़ाई देखने का बड़ा भारी चाव है, वे ही गोपाललीला अंगीकार करने वाले, व्रज-वासियों को सुख देने के निमित्त क्रीड़ा गोपालमूर्तिधारी देवाधिदेव मुरारि तुम्हारी रक्षा करें ।।१५२।।

कवि श्रीकेशवच्छत्रीजी भी कहते हैं कि—अहह ! श्रीगोपाल की मधुर मुरली के नाद को सुनकर, समस्त गोप मत्त होकर, जब तक निर्निमेष नयनों से आसक्तिपूर्वक श्रीमुकुन्द का दर्शन करते हैं, तब तक तो सारी गैयाँ कोमल कोमल घास के ग्रासों पर लुब्ध होकर, दूरवर्ती श्रीगोवर्धन पर्वत की गुफाओं में धँस गई ।।१५३।।

उपजातिः ।

विलोक्य कृष्णं व्रजवामनेत्राः सर्वेन्द्रियाणां नयनत्वमेव ।
आकर्ण्य तद्वेणुनिनादभङ्गीमैच्छन् पुनस्ताः श्रवणत्वमेव॥१५५

कस्यचित् ।

गोपियों का प्रबल प्रेम—

श्रीसर्वविद्याविनोदजी कहते हैं कि—गोपियों का श्रीकृष्ण में ऐसा प्रेम था कि श्रीकृष्ण की वंशी जब तक नहीं बजती, तब तक तो नीचे लिखे हुए विशेष कार्यों में कुछ धैर्य चातुर्य आदि रक्खा भी था, परन्तु वंशी ध्वनि सुनते ही, सबका गौरव रक्षण भूल जाती थीं। श्रीकृष्ण से मानकर बैठने पर भी धैर्य, अपनी कटिकी साड़ी का'अवलम्बन, श्रीकृष्ण के साथ रतिक्रीड़ा में यह विचार करना कि लोग हमारी निन्दा करेंगे, अतः एकान्त स्थान का अन्वेषण, श्रीकृष्ण के साथ बातचीत करने पर साध्वीधर्म स्मरण, पतिम्मन्य अपने साधारण पति के गृह का अन्वेषण, एवं सास, ससुर आदि के गौरव की रक्षा करना इत्यादि ॥१५४॥

अतः कोई कवि कहते हैं कि—व्रजसुन्दरीगण श्रीकृष्ण का दर्शन करके तो सब इन्द्रियों का नेत्र होना ही चाहती हैं; अर्थात् यह सोचती हैं कि दो नेत्रों से दर्शन में तृप्ति नहीं होती, अतः हम तो विधाता से यह चाहती हैं कि हमारी सब इन्द्रियों के स्थान पर केवल नेत्र ही बना देते तो आस मिटाकर दर्शन तो भी कर लेतीं। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण की वेणु ध्वनि की लहरी को सुनकर तो सब इन्द्रियों का कर्णरूपेण परिणित हो जाना ही चाहती हैं, अर्थात् सब इन्द्रियाँ यदि कर्णशक्ति धारण कर लेतीं तो हम भी वेणु ध्वनि यथेष्ट सुन लेतीं ॥१५५॥

अथ गोपीभिः सह लीला ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

कालिन्दीजलकेलि-लोलतरुणीरावीतचीनांशुका
निर्गत्याङ्गजलानि सारितवतीरालोक्य सर्वा दिशः ।
तीरोपान्तमिलन्निकुंजभवने गूढं चिरात् पश्यतः
शौरेः सम्भ्रमयन्निमा विजयते साकूत-वेणुध्वनिः ॥१५६॥

श्रीपुरुषोत्तमदेवस्य ।

अथ तासु कृष्णस्य भावः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

स्वेदाप्लावित-पाणिपद्ममुकुल-प्रक्रान्तकम्पोदयाद्-
विस्रस्तामविजानतो मुरलिकां पादारविन्दोपरि ।
लीलावेल्लित-बल्लवी-कवलितस्वान्तस्य वृन्दावने
जीयात् कंसरिपोस्त्रिभङ्गवपुषः शून्योदया फूत्कृतिः ॥१५७॥

श्रीचिरंजीवस्य ।

गोपियों के साथ लीला—

श्रीपुरुषोत्तमदेवजी कहते हैं कि—जब श्रीयमुनाजी के जलमें क्रीड़ापरायण गोपियाँ सूक्ष्म वस्त्र धारण किये हुए कुछ काल जलक्रीड़ा करके बाहर आकर सब दिशाओं की ओर देखकर अपने अपने अंगोछे से अंगजल को दूर करती हुई, उसी समय यमुनातीर पर विराजमान किसी निकुंजवन में बैठकर गूढ़रूप से देखते हुए श्रीकृष्ण ने "गोपियों को वस्त्र धारण करने के विषय में त्वरायुक्त करते हुए" जो वंशी बजाई वह अभिप्राय युक्त वंशी ध्वनि जययुक्त हो । अर्थात् वेणु ध्वनि सुनने से सब गोपियों को शीघ्र वस्त्र धारण करने पड़े । यहाँ परिहास व्यंजित होता है ॥१५६॥

श्रीकृष्णस्य प्रथमदर्शने श्रीराधाप्रश्नः ।

वसन्ततिलकम् ।

भ्रूवल्लिताण्डवकलामधुराननश्रीः
कंकेल्लि-कोरककरम्बित-कर्णपूरः ।
कोऽयं नवीन-निकषोपलतुल्यदेहो
वंशीरवेण सखि ! मामवशीकरोति ? ॥१५८॥

कस्यचित् ।

गोपियों में श्रीकृष्ण का प्रेम—

भक्तिरसभावुक श्रीचिरंजीव कवि कहते हैं कि—श्रीवृन्दावन में लीलापूर्वक नृत्य की चाल से चलने वाली गोपियों ने श्रीकृष्ण के मनोमणि को जब चुरा लिया, तो श्रीकृष्ण को स्वेद और कम्प हो गया अतः हस्तकमल में पसीना आ जाने के कारण वंशी कब करकमलों से खिसक कर चरणकमलों पर गिर पड़ी, इस बात का भी भावोदय के कारण जिनको पता नहीं चला, तब मुख से केवल फूत्कार ही करते रहे, ऐसे प्रेमपुजारी बाँकेबिहारी त्रिभङ्गललित कंसारि की शून्योदया वह फूत्कृति सदा विजय को प्राप्त हो ।।१५७।।

श्रीकृष्ण के प्रथम दर्शन में राधा का प्रश्न—

कोई कवि कहता है कि—अरी सखि ललिते ! जिसकी भ्रूलता की नृत्य कला से मुख की शोभा अतिशय मधुर है, और जिसके कर्णफूल अशोक की कलिका से खचित हैं, एवं जिसका श्रीविग्रह नवीन निकषपाषाण (कसौटी के पत्थर) के तुल्य है, यह सामने ही दृष्टि-गोचर होने वाला कौन पुरुषभूषण है ? यह तो अपनी वंशी ध्वनि के द्वारा मुझे विवश बना रहा है ।।१५८।।

वसन्ततिलकम् ।

इन्दीवरोदरसहोदरमेदुरश्री-
वासो द्रवत्कनकवृन्दनिभं दधानः ।
आमुक्तमौक्तिकमनोहरहारवक्षाः
कोऽयं युवा जगदनङ्गमयं करोति ? ॥१५९॥

श्रीसर्वविद्याविनोदानाम् ।

अथ सख्या उत्तरम् ।

रथोद्धता ।

अस्ति कोऽपि तिमिरस्तनन्धयः
किञ्चिदञ्चितपदं स गायति ।
यन्मनागपि निशम्य का वधू-
र्नावधूतहृदयोपजायते ? ॥१६०॥ कस्यचित् ।

श्रीसर्वविद्याविनोदजी भी कहते हैं—पूर्वोक्त प्रश्न सुनकर सखी बोली कि पुनः कहो, आपने क्या कहा ? तब श्रीराधिकाजी बोलीं—अरी सखि ललिते ! जिसके श्रीविग्रह की कान्ति दिव्य नीलकमल के मध्यभाग के सदृश स्निग्ध है, और जो गलाये हुए सुवर्ण समूह के तुल्य पीतवस्त्र धारण किये हुए है, और जिसका विशाल वक्षःस्थल मनोहर मुक्ताहारों से जड़ा हुआ है, ऐसा यह कौन युवक है, जो कि अपनी लोकोत्तर शोभा से जगत्‌भर को अनंगमय बना रहा है ? ॥१५९॥

सखी का उत्तर—

तब ललिता सखी बोलीं—हे श्रीमति राधिके ! कोई अन्धकार का पुत्र है। तब राधा बोलीं—सखि ! अन्धकारके भी पुत्र होता है ? तब ललिता बोली—नहीं सखी ! अन्धकारके समान काले वर्ण का कोई बालक है, वह कोई मनोहर पद गाता है, जिसके एक टुकड़े को

अथ श्रीराधायाः पूर्वरागः ।

उपजातिः ।

मनोगतां मन्मथबाणबाधामावेदयन्तीव तनोर्विकारैः ।
दीनानना वाचमुवाच राधा तदा तदालीजनसम्मुखे सा ॥१६१॥

श्रीपुरुषोत्तमदेवस्य ।

उपगीति आर्या ।

यदवधि यामुनकुंजे घनरुचिरवलोकितः कोऽपि ।
नलिनीदल इव सलिलं तदवधि तरलायते चेतः ॥१६२॥

श्रीकविचन्द्रस्य ।

सुनकर भी ऐसी कौन नववधू है, जिसका हृदय कंपित नहीं होता ? ।।१६०।।

श्रीराधिकाजी का पूर्वराग—

तब श्रीराधिकाजी अपने मनमें विद्यमान मनोभाव के बाणों की बाधा को देह विकार द्वारा निवेदन सी करती हुई अपनी सखियों के सम्मुख दीन वदन से बोलीं ।।१६१।।

अरी सखि ! जब से मैंने श्रीयमुनाजी की तीरवर्ती कुञ्ज में किसी घन के समान कान्तिवाले घनश्याम पुरुष विशेष को देखा है, तभी से मेरा चित्त कमलिनी के पत्र पर जल के समान चंचलित हो रहा है ।।१६२।।

शिखरिणी ।

अकस्मादेकस्मिन् पथि सखि ! मया यामुनतटं
व्रजन्त्या दृष्टोऽयं नवजलधरश्यामलतनुः ।
स दृग्भंग्या किं वाकुरुत न हि जाने तत इदं
मनो मे व्यालोलं क्वचन गृहकृत्ये न वलते ॥१६३॥

श्रीजयन्तस्य ।

शिखरिणी ।

पुरो नीलज्योत्स्ना तदनु मृगनाभीपरिमल-
स्ततो लीलावेणुक्वणितमनु कांचीकलरवः ।
ततो विद्युद्वल्लीवलयित-चमत्कारलहरी-
तरङ्गाल्लावण्यं तदनु सहजानन्द उदगात् ॥१६४॥

कस्यचित् ।

हे सखि ! एक दिन यमुनातटपर जाते समय एक मार्ग में अकस्मात् यह नव जलधर तुल्य श्याम शरीर वाला मेरे दृष्टि पड़ गया । वह अपनी तिरछी चितवन से न जाने क्या कर गया ? तब से तो अति चंचल यह मेरा मन घर के कामकाज में लगता ही नहीं है ॥१६३॥

ललिताजी ने कहा—वह किस प्रकार से देखा ? तब श्रीराधिकाजी बोलीं—अरी सखि ! पहिले तो सामने से नीला-नीला चांदना सा दीखा, फिर कस्तूरी की सी सुगन्धि आई, पश्चात् लीलापूर्वक वेणु ध्वनि मेरे कानों में पड़ी, तदनन्तर कौंधनी का मधुर शब्द सुनाई दिया, उसके पश्चात् विद्युत लता से घिरी हुई अनिर्वचनीय चमत्कार लहरी दीखी, उसकी तरङ्गों से मूर्तिमान् लावण्य उत्पन्न हुआ, फिर तो सहज आनन्द ही प्रगट हो गया ॥१६४॥

रथोद्धता ।

अद्य सुन्दरि ! कलिन्दनन्दिनी-
तीरकुंजभुवि केलिलम्पटः ।
वादयन् मुरलिकां मुहुर्मुहु-
र्माधवो हरति मामकं मनः ॥१६५॥

कस्यचित् ।

मालिनी ।

यदवधि यमुनायास्तीरवानीरकुंजे
मुररिपुपदलीला लोचनाभ्यामलोकि ।
तदवधि मम चित्तं कुत्रचित् कार्यमात्रे
न हि लगति मुहूर्तं किं विधेयं न जाने ॥१६६॥

श्रीकविचन्द्रस्य ।

अयि सुन्दरि ! मैं अपनी दशा का दिग्दर्शन तुम्हारे सामने कहाँ तक करूँ ? आज तो श्रीयमुनाजी के तीरस्थ कुंज भूमि में क्रीड़ा-परायण माधव ने बारंबार मुरली बजाते हुए मेरा मन हर लिया ॥१६५॥

जब से मैंने यमुनातीरस्थ बेंत की कुंज में मुरारी के चरणों की चाल लोचनों से देखी, तभी से मेरा चित्त किसी भी कार्य मात्र में क्षणभर भी नहीं लगता । आश्चर्य तो यह है कि, मुझे अब क्या करना चाहिये यह भी मैं नहीं जानती ॥१६६॥

पुष्पिताग्रा ।

यदवधि यदुनन्दनाननेन्दुः
सहचरि ! लोचनगोचरीबभूव ।
तदवधि मलयानिलेऽनले वा
सहजविचारपराङ्मुखं मनो मे ॥१६७॥

श्रीसञ्जयकविशेखरस्य ॥

उपगीति आर्या ।

असमंजसमसमंजसमसमंजसमेतदापतितम् ।
बल्लवकुमारबुद्धया हरि हरि हरिरीक्षितः कुतुकात् ॥१६८॥

श्रीशरणस्य ॥

आर्या ।

शुष्यति मुखमूरुयुगं पुष्यति जडतां प्रवेपते हृदयम् ।
स्विद्यति कपोलपाली सखि ! वनमाली किमालोकि ? ॥१६९॥

श्रीमुकुन्दभट्टाचार्यस्य ।

हे सहचरी ! जब से श्रीयदुनन्दन का मुखचन्द्र मेरे दृष्टिगोचर हुआ है, अर्थात् जब से वे देखे हैं तब से तो मेरा मन मलय पर्वत का अनिल (वायु) या अनल (अग्नि) इन दोनों के भेद विचार में सहज विमुख हो गया है, अर्थात् मैं अनिल अथवा अनल में क्या भेद है, यह भी निर्णय नहीं कर सकती । तात्पर्य यह है कि, विरहीजनों को मलयानिल (वायु) भी अनल (अग्नि) के समान दाहक प्रतीत होता है ।।१६७।।

हे सखि ! ये कैसा अन्याय ? ये कैसा अन्याय ? मेरे ऊपर तो बड़ा असमंजस आ पड़ा । हाय हाय ! मैंने तो कौतुक से ही व्रजराजकुमार कैसा सुन्दर है इस बुद्धि से कृष्ण का दर्शन किया था। मुझसे ये क्या बलाय लग बैठी ? ।।१६८।।

आर्या ।

उपरि तमालतरोः सखि ! परिणत-शरदिन्दुमण्डलः कोऽपि ।
तत्र च मुरलीखुरली कुलमर्यादामधो नयति ॥१७०॥

श्रीसञ्जयकविशेखरस्य ।

रथोद्धता ।

हन्त कान्तमपि तं दिदृक्षते
मानसं मम न साधु यत्कृते ।
इन्दुरिन्दुमुखि ! मन्दमारुत-
श्चन्दनं च वितनोति वेदनाम् ॥१७१॥ कस्यचित् ।

अरी सखि ! मैंने वनमाली का दर्शन क्यों किया ? मैं पहले जानती तो दर्शन न करती । दर्शन करते ही मेरी तो यह दशा हो गई है कि मेरा मुख सूखा जाता है, मेरी दोनों जंघायें जड़ सी होती जा रही हैं, अर्थात् चलने की सामर्थ्य नहीं रही । हृदय बारंबार काँपता है । विरह की उष्णता से दोनों कपोल पसीने के मारे लथपथ हो जाते हैं ।।१६९।।

श्रीराधा ललिता से बोलीं—अरी सखि ! तुझे एक आश्चर्य की बात सुनाऊँ । तमाल वृक्ष के ऊपर शरदऋतु के चन्द्रमा के समान एक अनिर्वचनीय पूर्ण चन्द्रमण्डल को मैंने देखा, और उस चन्द्रमण्डल में मनोहर मुरली बजाने का अभ्यास देखा, और आश्चर्य की बात तो ये है, सखि ! कि वह मुरली अभ्यास कुलमर्यादा को तो नीचे ही लिये जा रहा है । इस अतिशयोक्ति अलंकार में श्रीकृष्ण के शरीर को ही तमाल वृक्ष एवं मुखचन्द्र को ही पूर्ण शरच्चन्द्रमण्डल जानना ।।१७०।।

हे चन्द्रमुखि ! हर्ष की बात तो यह है कि, मेरा मन तो उसी प्राणप्यारे को देखना चाहता है, जिसके कारण मेरा मन चंचल हो रहा है, और चन्द्रमा, मन्दमारुत, चन्दन ये सब जिसके वियोग में मेरी वेदना

आर्या ।

गुरुजनगंजनमयशो गृहपतिचरितं च दारुणं किमपि ।
विस्मारयति समस्तं शिव शिव मुरली मुरारातेः ॥१७२॥

श्रीसर्वविद्याविनोदानाम् ।

आर्या ।

द्रविणं भवनमपत्यं तावन्मित्रं तथाभिजात्यं च ।
उपयमुनं वनमाली यावन्नेत्रो न नर्तयति ॥१७३॥ तेषामेव ।

वंशस्थविलम् ।

तुष्यन्तु मे छिद्रमवाप्य शत्रवः
करोतु मे शास्तिभरं गृहेश्वरः ।
मणिस्तु वक्षोरुहमध्यभूषणं
ममास्तु वृन्दावनकृष्णचन्द्रमाः ॥१७४॥ कस्यचित् ।

बढ़ा रहे हैं। मेरे कहने का तो तात्पर्य यही है कि, सखि ! किसी युक्ति से हमारे प्राणनाथ से हमें मिला दो तो हमारे प्राण बच जायँ, तुम्हारा बहुत उपकार होगा ॥१७१॥

हे सखि ! सास, ससुर आदि गुरुजनों की भर्त्सना, अपयश एवं लौकिक काल्पनिक पति का कठोर व्यवहार ये सब मेरे प्रति दुःखप्रद होने पर भी हर्ष की बात तो यह है कि, मुरारी की मुरली बजते ही इन सबको भुला देती है ॥१७२॥

अरी सखि ! विशेष क्या कहूँ ? श्रीयमुना के तीर पर खड़े हुए वनमाली जब तक अपने दोनों नेत्रों को नचाते नहीं है, अर्थात् कटाक्ष-पूर्वक नहीं देखते हैं, तभी तक धन, भवन, पुत्र, मित्र, सत्कुल में उत्पन्न होने का अहंकार इत्यादि रहते हैं। तू तनिक देख लेगी तो सब सिटल्ली भूल जायगी ॥१७३॥

वसन्ततिलकम् ।

स्वामी निहन्तु विहसन्तु पुरः सपत्न्यो
भर्तुर्भंजन्तु गुरवः पितरश्च लज्जाम् ।
एतावता यदि कलङ्कि कुलं तथास्तु
रामानुजे मम तनोतु मनोऽनुरागम् ॥१७५॥ कस्यचित् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

स्वामी कुप्यति कुप्यतां परिजना निन्दन्ति निन्दन्तु मा-
मन्यत् किं प्रथतामयं च जगति प्रौढो ममोपद्रवः ।
आशास्यं पुनरेतदेव यदिदं चक्षुश्चिरं वर्धतां
येनेदं परिपीयते मुररिपोः सौन्दर्यसारं वपुः ॥१७६॥

श्रीपुष्कराक्षस्य ।

अरी सखि ! शत्रुगण मेरे छिद्र को प्राप्त कर भले ही प्रसन्न हो जायें, एवं मेरे घर का मालिक भी चाहे मेरा यथेष्ट शासन करे, तथापि मेरे वक्षःस्थल के मध्यभूषणमणि तो बृन्दावन के श्रीकृष्णचन्द्र ही बने रहें ॥१७४॥

हे सखि ! मेरा काल्पनिक स्वामी भले ही प्रहार करे, मेरी सपत्नियाँ (सौतें) सामने ही मेरी हँसी करती हैं तो करो, स्वामी के गुरुवर्ग अथवा हमारे माता-पिता यदि लज्जित होते हैं तो हो जाओ, और यदि मेरे ऐसा करने पर कुल कलंकित होता है तो हो जाये, तथापि मेरा मन तो बलदेवजी के छोटे भाई श्रीकृष्ण में अनुराग बढ़ाता ही रहे ॥१७५॥

स्वामी कुपित होता है तो हो जाय, मेरी दासियाँ निन्दा करती हैं तो करो, और तो क्या, यदि सारा संसार भी मेरे उपद्रव की

बसन्ततिलकम् ।

किं दुर्मिलेन मम दूति ! मनोरथेन
तावन्ति हन्त सुकृतानि कया कृतानि ?
एतावदेव मम जन्मफलं मुरारि-
र्यन्नेत्रयोः पथि बिभर्ति गतागतानि ॥१७७॥

कस्यचित् ।

गीतिआर्या ।

सखि ! मम नियतिहताया-
स्तद्दर्शनभाग्यमस्तु वा मा वा ।
पुनरपि स वेणुनादो
यदि कर्णपथे पतेत्तदेवालम् ॥१७८॥ कस्यचित् ।

अख्याति करता है तो करे, अथवा विषदानादि विशिष्ट उपद्रव मेरे प्रति करना चाहे तो भले ही करें, किन्तु हमारा तो एकमात्र प्रार्थनीय यही है कि, जो मेरे नेत्र सौन्दर्य के सारस्वरूप श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह का दर्शन करते हैं, उनकी दर्शन शक्ति चिरकाल तक बढ़ती ही रहे ॥१७६॥

हे दूति ! जो मनोरथ मिल नहीं सकता उस मनोरथ के करने से मुझे क्या प्रयोजन ? हाय ! उतने पुण्य ही किस सौभाग्यवती ने किये हैं ? परन्तु मेरे जन्म का तो इतना ही बहुत फल है कि, मेरे नेत्रों के मार्ग में मुरारी बारंबार आना जाना तो करते ही रहते हैं । भावार्थ यह है कि, यदि उनकी कृपा हो गई तो सेवा का सुअवसर भी प्राप्त हो सकता है ॥१७७॥

विरह के कारण अत्यन्त दीन होकर श्रीराधाजी पुनः कहती हैं कि हे सखि ! मैं बड़ी दुर्भागिनी हूँ, अतः मेरे लिये श्रीकृष्ण के दर्शन का

वसन्ततिलकम् ।

ताराभिसारक ! चतुर्थनिशाशशाङ्क !
कामाम्बुराशिपरिवर्धन ! देव ! तुभ्यम् ।
अर्घो नमो भवतु मे सह तेन यूना
मिथ्यापवादवचसाप्यभिमानसिद्धिः ॥१७९॥

कस्यचित् ।

सौभाग्य प्राप्त हो मत हो। यदि मेरे कानों में पुनरपि वह वेणु ध्वनि पड़ जाय तो मेरे लिये तो यही पर्याप्त है ॥१७८॥

श्रीकृष्ण के साथ संयोग न होने से श्रीराधिकाजी भाद्रपद की शुक्ल चतुर्थी के चन्द्रमा को लक्ष्य करके खेदपूर्वक कहती हैं कि—हे ताराभिसारक ! हे चतुर्थनिशाशशाङ्क ! हे कामसागर परिवर्धनकारक ! हे देव ! मैं नमस्कारपूर्वक आपके लिये अर्घ्यप्रदान करती हूँ, जिसके प्रतिफल में उस युवक नन्दकिशोर के साथ यदि मुझे मिथ्यापवादरूप वचन भी मिलते हैं तो भी मेरे अभिमान की सिद्धि हो जायगी। भावार्थ यह है कि, भाद्रपद की शुक्ल चतुर्थी को आपको कोई भी नहीं देखता है, यदि भूल से भी आपका दर्शन हो गया तो, उस दोष की शान्ति के लिये स्यमन्तकमणि का हरणादि उपाख्यान सुनते हैं, परन्तु मैंने तो रागपूर्वक देखकर कलंक प्राप्ति संकल्पपूर्वक आपको अर्घ्य दिया है, अतः कैमुत्यन्याय से स्वाभिमत कलंक सिद्धि मुझको प्राप्त हो जाय। तात्पर्य यह है कि, संसार में प्रेम होने से प्रशंसा होने पर भी पारलौकिक कुछ लाभ नहीं। और भगवान् के सम्बन्ध से यदि निन्दा भी हो जाय तो भी भगवत्प्राप्तिरूप लाभ है ही। अतः भगवान् का सम्बन्धी होकर रहना अच्छा। सांसारिक सम्बन्ध दुःखदायी है। और भगवान् के प्रति की हुई काम वासनायें भी काम रूप न रहकर प्रेम रूप में परिणत हो जाती हैं। श्रीकृष्ण ने व्रजकुमारिकाओं के प्रति कहा

अथान्यचतुरसखीवितर्कः ।

आर्या ।

सिद्धान्तयति न किञ्चिद्-
भ्रमयति दृशमेव केवलं राधा ।
तदवगतं सखि ! लग्नं
कदम्बतरुदेवतामरुता ॥१८०॥

श्रीराङ्गस्य ॥

अथ राधां प्रति सखीप्रश्नः ।

वसन्ततिलकम् ।

कामं वपुः पुलकितं नयने धृतास्त्रे
वाचः सगद्गदपदाः सखि ! कम्पि वक्षः ।
ज्ञातं मुकुन्द-मुरलीरव-माधुरी ते
चेतः सुधांशुवदने ! तरलीकरोति ॥१८१॥

तस्यैव ।

भी है कि—"न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते । भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ॥" (भा० १०.२२.२६) अर्थात् मेरे में जिन्होंने अपनी बुद्धि को लगा दिया उनका काम सांसारिक काम के लिये नहीं रह जाता । जिस प्रकार भूने और उबाले हुए जौ (यव) बीज के काम के नहीं रह जाते ॥१७९॥

किसी चतुर सखी का वितर्क—

श्रीराधिकाजी की विरहमयी दशा देखकर एक सखी बोली—हे सखि ! श्रीराधिकाजी किसी बात के पूछने पर भी अपने सिद्धान्त को स्थापित नहीं करती है केवल नेत्रों को ही घुमाती रहती हैं । अतः मैंने तो यही जाना है कि कदम्ब वृक्ष के देवता की वायु (व्यार)लग गई है, अर्थात् कदम्ब के नीचे वंशी वजाने वाला काला भूत इससे चिपट गया है ॥१८०॥

पृथ्वी ।

गतं कुलवधूव्रतं विदितमेव तत्तद्वच-
स्तथापि तरलाशये ! न विरतासि को दुर्ग्रहः ?
करोमि सखि ! किं श्रुते दनुजवैरिवंशीरवे
मनागपि मनो न मे सुमुखि ! धैर्यमालम्बते ।।१८२।।

कस्यचित्

अनुष्टुभ् ।

आस्तां तावदकीर्तिर्मे त्वया तथ्यं तु कथ्यताम् ।
चित्तं कथमिवासीत्ते हरिवंशीरव-श्रुतौ ? ।।१८३।।

कस्यचित् ।

श्रीराधा से सखी का प्रश्न—

हे सुधांशुवदने सखि राधे ! तुम्हारा सारा शरीर पुलकित है, दोनों नेत्र अश्रुयुक्त हैं, वाणी गद्गद हो रही है, वक्षःस्थल काँप रहा है, इससे ज्ञात होता है कि, मुकुन्द की मुरली की ध्वनि माधुरी तुम्हारे चित्त को चंचल बना रही है ।।१८१।।

हे चंचलचित्ते ! तुम्हारा कुलवधू व्रत चला गया, एवं तुम्हारे सम्बन्धियों के तुम्हारे सम्बन्ध में कहे हुए वचन भी प्रसिद्ध हो गये, तथापि तू अपने हठ से टलती नहीं, यह कौनसा दुराग्रह है ? तब श्रीराधाजी बोलीं—हे सुमुखि सखि ! मैं क्या करूँ ? दनुजदमन श्रीकृष्ण की थोड़ीसी वंशीध्वनि सुनते ही मेरा मन किंचित् भी धैर्य धारण नहीं करता ।।१८२।।

और मेरी तो श्रीकृष्ण में प्रीति करने से यदि अकीर्ति होती है तो होने दो, परन्तु मैं तुझ से पूछती हूँ, सखि ललिते ! तू सत्य सत्य बता

शार्दूलविक्रीडितम् ।

सत्यं जल्पसि दुःसहाः खलगिरः सत्यं कुलं निर्मलं
सत्यं निष्करुणोऽप्ययं सहचरः सत्यं सुदूरे सरित् ।
तत्सर्वं सखि ! विस्मरामि झटिति श्रोत्रातिथिर्जायते
चेदुन्मादमुकुन्दमंजुमुरलीनिस्वानरागोद्गतिः ॥१८४॥

श्रीगोविन्दभट्टस्य ।

अथ श्रीराधां प्रति सखीनर्माश्वासः ।

पृथ्वी ।

निशा जलदसंकुला तिमिरगर्भलीनं जगद्-
वयस्तव नवं नवं वपुरपूर्वलीलामयम् ।
अलं सुमुखि ! निद्रया व्रजगृहेऽपि नक्तञ्चरी
कदम्बवनदेवता नवतमालनीलद्युतिः ॥१८५॥

श्रीसर्वविद्याविनोदानाम् ।

कि श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि सुनते ही तेरे चित्त की क्या दशा हो गई थी ? तब मेरे चित्त का दोष या गुण बताना ।।१८३।।

हे सखि ! तू कहती तो सत्य है, और मैं ये भी जानती हूँ कि दुष्टों की वाणी असह्य है, हमारा कुल निर्मल है, यह बात भी सत्य है, एवं यह हमारा प्रीत्यास्पद सहचर श्रीकृष्ण भी दयाहीन है, और श्रीयमुनाजी भी बहुत दूर हैं, तथापि अकस्मात् यदि उन्मादजनक मुकुन्द की मंजु मुरलीध्वनि की रागरागिनी मेरे कानों में पड़ जाती है तो मैं सारी बातें भूल जाती हूँ ।।१८४।।

श्रीराधा के प्रति सखियों का परिहासमय आश्वासन—

श्रीराधा की ऐसी उत्कण्ठा सुनकर आश्वासन देती हुई सखी कहती है कि—हे सखि राधे ! यह रात्रि तो बादलों से घिरी हुई है, सारा

अथ श्रीकृष्णं प्रति श्रीराधानुरागकथनम् ।

वसन्ततिलकम् ।

त्वामंजनीयति फलासु विलोकयन्ती
त्वां शृण्वती कुवलयीयति कर्णपूरम् ।
त्वां पूर्णिमाविधुमुखी हृदि भावयन्ती
वक्षोनिलीन-नवनीलमणिं करोति ॥१८६॥ कस्यचित् ।

संसार अन्धकार के गर्भ में लीन हो गया है, तुम्हारी अवस्था भी नवीन है, शरीर भी अपूर्व लीलामय है, अतः हे सुमुखि ! तुमको अभी सोना उचित नहीं, कारण कि नवतमाल की सी नीलकान्ति वाली, रात्रि में विचरण करने वाली, कदम्ब वनदेवता तुम्हारे अन्धकारमय गृह में ही उपस्थित है, तुम उसके पास जाओ, उसके पाँव पूजो, तुम्हारे मनोरथ सिद्ध कर देगी ।।१८५।।

श्रीकृष्ण के प्रति राधा का अनुराग कथन—

श्रीकृष्ण के पास जाकर एक सखी श्रीराधा का अनुराग वर्णन करती हुई कहती है कि—हे श्रीकृष्ण ! पूर्णिमाविधुमुखी श्रीराधा चित्रपट में तुम्हारा प्रतिबिम्ब देखती हुई तुमको अञ्जन के समान अपने नेत्रों में धारण करती है, और तुम्हारे गुणों को सुनती हुई नीलकमल के कर्ण-फूलों के समान तुमको कानों में धारण करती है, एवं हृदय में तुम्हारा ध्यान करती हुई वक्षःस्थल पर नवनीलमणि के समान तुमको धारण करती है, अर्थात् तुम जैसे कौस्तुभमणि को प्यार से धारण करते हो, उसी प्रकार नीलमणिस्वरूप तुमको वक्षःस्थल का भूषण बनाना चाहती है ।।१८६।।

शिखरिणी ।

गृहीतं ताम्बूलं परिजनवचोभिर्न सुमुखी
स्मरत्यन्तःशून्या मुरहर ! गतायामपि निशि ।
तथैवास्ते हस्तः कलितफणिवल्लीकिसलय-
स्तथैवास्यं तस्याः क्रमुकफलफालीपरिचितम् ॥१८७॥

श्रीहरिहरस्य ॥

अनुष्टुभ् ।

प्रेमपावकलीढाङ्गी राधा तव जगत्पते !
शय्यायाः स्खलिता भूमौ पुनस्तां गन्तुमक्षमा ॥१८८॥

श्रीकविचन्द्रस्य ॥

आर्या ।

मुरहर ! साहसगरिमा कथमिव वाच्यः कुरङ्गशावाक्ष्याः ?
खेदार्णवपतितापि प्रेमधुरां ते समुद्वहति ॥१८९॥

श्रीकविचन्द्रस्य ॥

हे श्रीकृष्ण ! सुमुखी राधा अन्तःकरण से शून्य सी हो रही है,कारण कि सब सेविकाओं के वचनों से जैसे तैसे ग्रहण किये हुए ताम्बूल का सारी रात बीतने पर भी उसे खाने का स्मरण नहीं रहता । जिस हाथ में ताम्बूल धरा है, वह वैसे का वैसा ही है, और जिस मुख में सुपारी का टुकड़ा रक्खा है, वह भी चेष्टाशून्य वैसे का वैसे ही है ॥१८७॥

हे जगत्पते ! तुम्हारे प्रेमरूपी पावक में दग्धाङ्गी श्रीराधा बेहोश होकर शय्या से खिसलकर भूमिपर गिर पड़ी है, पुनः वह असमर्थता के कारण उस शय्या पर नहीं जा सकती है, अतः आप जगत्पति कहलाते हो तो उसकी रक्षा करना उचित है ॥१८८॥

आर्या ।

गायति गीते शंसति वंशे वादयति सा विपञ्चीषु ।
पाठयति पंजरशुकं तव सन्देशाक्षरं राधा ॥१९०॥

श्रीगोवर्धनाचार्यस्य ।

श्रीराधा प्रति श्रीकृष्णानुरागकथनम् ।

वसन्ततिलकम् ।

केलीकलासु कुशला नगरे मुरारे-
राभीरनीरज-दृशः कति वा न सन्ति ?
राधे ! त्वया महदकारि तपो यदेष
दामोदरस्त्वयि परं परमानुरागः ॥१९१॥

कस्यचित् ।

हे मुरारे ! मृगशावकनयनी श्रीराधा के साहस की अधिकता का किस प्रकार वर्णन करूँ ? वह तो खेदरूपी समुद्र में पड़ी हुई भी तुम्हारे प्रेमभार को धारण किये हुए है ॥१८९॥

हे कृष्ण ! राधा तुम्हारे सन्देशरूप अक्षरों को गायनरूप में परिणत करके गाती रहती है, अलगोजे में कहती रहती है, वीणापर बोलती रहती है, और पिंजरा में बैठे हुए तोता को पढ़ाती रहती है ॥१९०॥

श्रीराधा के प्रति श्रीकृष्ण का अनुराग कथन—

कोई सखी श्रीराधिका के पास जाकर कहती है कि--हे राधे ! इस नगर में मुरारी की केलिकला में कुशल अनेक कमलनयनी गोपियाँ हैं। तथापि तुमने भारी तपस्या करी है, जिसके कारण यह भक्तवत्सल दामोदर केवल तुम में ही विशेष अनुराग करता है ॥१९१॥

वसन्ततिलकम्

वत्सान्न चारयति वादयते न वेणु-
मामोदते न यमुनावनमारुतेन ।
कुंजे निलीय शिथिलं बलितोत्तमाङ्ग-
मन्तस्त्वया श्वसिति सुन्दरि ! नन्दसूनुः ॥१९२॥

श्रीदैत्यारिपण्डितस्य ॥

वसन्ततिलकम् ।

सर्वाधिकः सकलकेलिकलाविदग्धः
स्निग्धः स एष मुरशत्रुरनर्घरूपः ।
त्वां याचते यदि भज व्रजनागरि !
त्वं साध्यं किमन्यदधिकं भुवने भवत्याः ? ॥१९३॥

श्रीराङ्गस्य ॥

हे सुन्दरि ! अन्तःकरण में तुम्हारे द्वारा आक्रान्त होने के कारण तुम्हारे विरह में नन्दनन्दन बछड़ों को नहीं चराता, वेणु नहीं बजाता, एवं यमुना वन संबंधीय शीतलमन्द सुगन्ध वायु से भी प्रसन्न नहीं होता। कुंज में छिपकर शिथिल होकर बैठकर मस्तक नीचा कर केवल लंबे लंबे श्वास लेता रहता है,अतः वह भी तुमसे कम अनुरागी नहीं है॥१९२॥

हे व्रजनागरि ! जो सब की अपेक्षा सब गुणों में अधिक है, और जो सब प्रकार की केलिकला में चतुर है, एवं हृदय में तुम से स्नेह भी रखता है, अपूर्व रूप सम्पन्न है, वही श्रीकृष्ण यदि तुमको याचना करता तो हर्षपूर्वक तुम उसकी सेवा करो। और आपके लिये त्रिभुवन में इससे अधिक अन्य साध्य वस्तु है भी कौनसी ? ॥१९३॥

अथ श्रीराधाभिसारः ॐ।

वसन्ततिलकम् ।

मन्दं निधेहि चरणौ परिधेहि नीलं
वासः पिधेहि वलयावलिमञ्चलेन ।
मा जल्प साहसिनि ! शारदचन्द्रकान्ति-
दन्तांशवस्तव तमांसि समापयन्ति ॥१९४॥

श्रीषाण्मासिकस्य ।

शिखरिणी ।

किमुत्तीर्णः पन्थाः कुपितभुजगीभोगविषमो
विषोढा भूयस्यः किमिति कुलपालीकटुगिरः ?
इति स्मारं स्मारं दरदलित-शीतद्युतिरुचौ
सरोजाक्षी शोणं दिशि नयनकोणं विकिरति ॥१९५॥

श्रीसर्वविद्याविनोदानाम् ।

अथ श्रीराधाभिसारः--

श्रीकृष्ण के समीप जाने को उद्यत हुई श्रीराधिका को ॐ**अभिसारिका** के अनुरूप रूप बनाने के लिये संकेत करती हुई सखी कहती है कि— हे राधे ! चरणों को शब्द रहित धीरे धीरे धरो, नीली साड़ी धारण कर लो, कारण कि श्वेत धारण करने से किसी को दीख जाओगी । और इन दोनों हाथों की मणियुक्त चूड़ियों को अपने अंचल से ढक लो, अन्यथा मणियों के प्रकाश में दृष्टिगोचर हो जाओगी । हे साहसिनि ! रास्ते में सखी से न बोलना, कारण कि शरत्कालीन चन्द्रमा की चन्द्रिका के समान देदीप्यमान तेरे दाँतों की किरण अन्धकारमयी रात्रि के सारे अन्धकार को समाप्त कर देती हैं ।।१९४।।

❀ नायिकाओं की अवस्था के भेद—

नायिका आठ प्रकार की होती हैं । १—अभिसारिका, २—वासकसज्जा, ३—उत्कण्ठिता, ४—विप्रलब्धा, ५—खण्डिता, ६—कलहान्तरिता, ७—प्रोषितभर्तृका, एवं ८—स्वाधीनभर्तृका ।

(१) **अभिसारिका** उसको कहते हैं, जो संकेतित स्थान पर अपने कान्त का अभिसार कराती है, अथवा स्वयं उस स्थान के लिये अभिसरण करती है । और कृष्णपक्ष शुक्लपक्ष इन दोनों में अभिसरण के योग्य वेषभूषा धारण करती है, लज्जा के कारण अपने अङ्गों में लीन सी रहती है । एवं शब्दरहित आभूषणों को धारण करती है, और सारे शरीर को वस्त्र से ढके रहती है, स्नेहयुक्त एक सखी को साथ लेकर अपने प्रिय के पास जाती है ।

(२) **वासकसज्जा** उसे कहते हैं, जो अपने नायक की आज्ञा से संकेतित स्थान पर रहकर नायक के आगमन काल तक अपने शरीर और स्थान को सजाती रहती है । उसकी चेष्टा–केलिविनोद, संकल्प, कान्तपथ-निरीक्षण, सखियों के साथ विनोदालाप इत्यादि होती हैं ।

(३) **उत्कण्ठिता** उसको कहते हैं, जो निरापराध प्रियतम के किसी कारणवशात् आगमन में विलम्ब करने पर विरह के कारण जो मिलने के लिये उत्कण्ठित रहती है । उसकी चेष्टाये होती हैं—हृदय में ताप, शरीर में कम्प, न आने के कारणों का तर्क वितर्क, दुःख, आँसू बहाना इत्यादि ।

(४) **विप्रलब्धा** उसको कहते हैं, जो आने का संकेत करके भी दैवयोग से जिसका प्राणनाथ न आसके । अतः कान्त के द्वारा किसी कारणान्तर से वञ्चित की जाने के कारण उसको विप्रलब्धा कहते हैं । उसके हृदय में खेद और मान उत्पन्न हो जाता है ।

(५) **खण्डिता** उसको कहते हैं, जिसका प्रिय नायक संकेतिल समय का अतिक्रमण करके, अन्य नायिका के साथ भोग करके, भोग के चिह्नों से अङ्कित होकर प्रातःकाल जिसके पास आता है । अतः वह अपना अभिलाष खण्डित होने से खण्डिता कही जाती है । यह क्रोध के मारे लंबे लंबे श्वास लेती है और नायक से मौनावलम्बन आदि चेष्टा करने लगती है ।

(६) **कलहान्तरिता** वह कही जाती है, जो अपनी सखियों के सामने ही अपने चरणों में पड़े हुए प्राणनाथ का क्रोध के कारण तिरस्कार करके पश्चात् पश्चाताप करती है ।

(७) **प्रोषितभर्तृका** उसको कहते हैं, जिसका कान्त दूर देश चला जाय । अपने प्यारे के गुणों का संकीर्तन करना, दीनता छा जाना, शरीर कृश हो जाना, निद्रा न आना, वस्त्रभूषा शरीर आदि की मलिनता धारण किये रहना, जड़ता, चिन्ता आदि इसकी स्वाभाविकी चेष्टा होती हैं ।

(८) **स्वाधीनभर्तृका** वह है, जिसका प्राणपति अपने आधीन है । सब आज्ञाओं का पालन भी करता है ।

यह सब नायिकाओं का भेद प्रकृत ग्रन्थोपयोगी होने के कारण सूक्ष्मतया लक्षण सहित दिखाया । विशेष विस्तार तो साहित्यदर्पण, उज्ज्वलनीलमणि आदि आकर ग्रन्थों में से जिज्ञासु देख सकते हैं। ग्रन्थ के विस्तार के भय से प्रकृत विषय पर आता हूँ । इन सब नायिकाओं के उदाहरण तो इस ग्रन्थ में ही (श्लोक संख्या २०९, २१२, २१३, २१५, २१६, २२९, २५१ में) आगे आवेंगे । अतः साधारण जनों की जानकारी के लिये लक्षण पहले लिख दिये ।

कृष्णपक्ष की षष्ठी की रात्रि में कृष्ण के समीप जाती हुई श्रीराधिका कहती हैं कि—हाय ! मैंने कुपित सर्पिणी के फण के समान विषम

मन्दाक्रान्ता ।

चित्रोत्कीर्णादपि विषधराद्भीतिभाजो रजन्यां
किं वा ब्रूमस्त्वदभिसरणे साहसं माधवास्याः ?
ध्वान्ते यान्त्या यदतिनिभृतं राधयात्मप्रकाश-
त्रासात् पाणिः पथि फणिफणारत्नरोधी व्यधायि ॥१९६॥

कस्यचित् ।

अथ श्रीराधां प्रति सखीवाक्यम् ।

रथोद्धता ।

मन्मथोन्मथितमच्युतं प्रति ब्रूहि किञ्चन समुल्लसत् स्मितम् ।
किञ्च सिञ्च मृगशावलोचने ! लोचनेङ्गितसुधौघनिर्झरैः ॥१९७॥

कस्यचित् ।

कण्टकाकीर्ण यह वन का मार्ग क्यों पार किया ? और कुलस्त्रियों की असह्य कटु वाणियाँ मैंने क्यों सहीं ? इन बातों को बारंबार स्मरण करतीं हुई कमलनयनी श्रीमती राधिका थोड़ी सी विकसित चन्द्रकान्ति-युक्त दिशा में किंचित् रक्तवर्ण अपने नयन कटाक्ष को फैंकने लगी । भावार्थ यह है कि, यदि चन्द्र पूर्णरूपेण उदय हो गया तो मैं किसी के दृष्टिगोचर हो जाऊँगी, और घोर कठोर कान्तार भ्रमण आदि भी व्यर्थ ही हो जायगा । अतः रक्तवर्ण कटाक्ष से सूचित करती हैं कि हे चन्द्र ! अभी उदय न होवो ॥१९५॥

सखी सहित राधिका के श्रीकृष्ण के समीप पहुंचने पर श्रीराधा की सखी बोली—हे माधव ! चित्र में लिखे हुए सर्प से भी भयभीत होने वाली श्रीराधिका ने इस अन्धकारमयी रात्रि में आपके सम्मुख आने में जो साहस किया है, उसका मैं क्या वर्णन करूँ ? देखो तो सही ! इस अन्धकार में गुप्तरूप से आती हुई राधा ने अपने प्रकाशित होने के भय से मार्ग में भयंकर सर्पों के फणों के रत्नों के प्रकाश को रोकने वाला अपना हस्तकमल ही बना लिया ॥१९६॥

प्रहर्षिणी ।

गोविन्दे स्वयमकरोः सरोजनेत्रे
प्रेमान्धा वरवपुरर्पणं सखि ! त्वम् ।
कार्पण्यं न कुरु दरावलोकदाने
विक्रीते करिणि किमंकुशे विवादः ? ॥१९८॥ समाहर्तुः ।

अथ क्रीडा ।

मंजुभाषिणी ।

परमानुरागपरयाथ राधया
परिरम्भकौशलविकाशिभावया ।
स तया सह स्मरसभाजनोत्सवं
निरवाहयच्छिखिशिखण्डशेखरः ॥१९९॥ श्रीकविराजमिश्रस्य ।

श्रीराधा के प्रति सखीवाक्य—

हे मृगशावकलोचने श्रीराधे ! अपने सौन्दर्य से मन्मथ को उन्मथित कर देने वाले श्रीकृष्ण के प्रति ईषद् हास्यपूर्वक कुछ बोल तो सही । यदि नहीं बोलना चाहती तो अपने नेत्र के इङ्गित (इशारे) रूप अमृत के झरनों से ही इनका सेचन कर ॥१९७॥

हे पद्माक्षि ! तुमने प्रेम में अन्धी होकर अपने सुन्दर शरीर को तो गोविन्द के प्रति स्वयं समर्पण कर दिया । अतः हे सखि ! उनको किंचित् कटाक्षपूर्वक देखने में कृपणता न करो । हाथी को बेच देने पर अंकुश के देने में विवाद करना उचित है क्या ? ॥१९८॥

अथ क्रीड़ा—

श्रीकविराज मिश्र कहते हैं कि—जो परम अनुरागवती है, एवं जो आलिङ्गन कौशल से ही अपने भाव को प्रकाशित कर देती है, उस

स्रग्धरा ।

अस्मिन् कुंजे विनापि प्रचलति पवनं वर्तते कोऽपि नूनं
पश्यामः किं न गत्वेत्यनुसरति गणे भीतभीतेऽर्भकाणाम् ।
तस्मिन् राधासखो वः सुखयतु विलसन् क्रीडया कैटभारि-
र्व्यातन्वानो मृगारिप्रबलघुरघुरारावरौद्रोच्चनादान् ।।२००।।

कस्यचित् ।

अथ क्रीडानन्तरं जानतीनां सखीनां नर्मोक्तिः ।

मालिनी ।

इह निचुलनिकुंजे मध्यमध्यास्य रन्तु-
र्विजनमजनि शय्या कस्य बालप्रवालैः ?
इति निगदति वृन्दे योषितां पान्तु युष्मान्
स्मितशबलित-राधामाधवालोकितानि ॥२०१॥ श्रीरूपदेवस्य ।

श्रीराधिका के साथ मयूरमुकुटधारी बनवारी ने कन्दर्प को सम्मान देने वाला महोत्सव निर्वाहित किया ।।१९९।।

बछड़ा चराते चराते छोटे छोटे बालक आपस में बोले—अरे भाइयो ! इस कुञ्ज के बिना वायु के ही हिलने चलने पर तो यह अनुमान होता है कि, इसमें कोई अवश्य है । चलो, चल कर देख क्यों न लें ? इस प्रकार कहकर भयभीत बालकगण के उस निकुंज की ओर गमन करने पर भी जो श्रीराधा सङ्गी श्रीकृष्ण उस निकुञ्ज में क्रीड़ा-पूर्वक विलास करते हुए सिंह के समान घुरघुर भयंकर उच्चनादों का विस्तार करते हुए, एवं बालकों को भययुक्त विस्मित करते हुए विराजमान रहे, वही श्रीकृष्ण तुम सबको सुखी करें ।।२००।।

अथ मुग्धबालवाक्यम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

"कृष्ण ! त्वद्वनमालया सह हृतं केनापि कुंजोदरे
गोपीकुन्तलबर्हदाम तदिदं प्राप्तं मया गृह्यताम् ।"
इत्थं दुग्धमुखेन गोपशिशुनाख्याते त्रपानम्रयो
राधामाधवयोर्जयन्ति बलितस्मेरालसा दृष्टयः ॥२०२॥

श्रीलक्ष्मणसेनस्य ।

क्रीड़ानन्तर जानने वाली सखियों की नर्मोक्तिः—

इस बेंत की निकुञ्ज के बीच में उपस्थित होकर रमणशील किस व्यक्ति की नवपल्लवों द्वारा एकान्त में शय्या निर्मित हुई ? सखी समूह के इस प्रकार कहने पर हास्य समन्वित श्रीराधामाधव ने जो परस्पर अवलोकन किया, वे परस्परानुराग सूचक कटाक्ष ही तुम्हारी रक्षा करें ॥२०१॥

मुग्धबालक वाक्य—

रात्रि क्रीड़ानन्तर प्रातःकाल वत्सचारण करते करते दैवयोग से उस कुञ्ज में जाने वाला एक मुग्ध (भोलाभाला) बालक श्रीकृष्ण से बोला—"हे श्रीकृष्ण ! तुम्हारी वनमाला के साथ किसी गोपी के केशों में स्थित मयूरपुच्छचन्द्रिका और माला को किसीने चुराकर मिलाकर कुञ्ज के मध्य में पटक दिया था। बछड़ा चराते समय मुझे ये मिल गये। लो इन दोनों को स्वीकार करो।" दूधमुँहे भोलेभाले गोपबालक के ऐसा कहने पर, लज्जावनत श्रीराधामाधव के जो हास्य समन्वित चारों नेत्र स्थिर हो गये थे, उनकी सदा ही जय हो । श्रीयशोदाजीने पाक-बनाने के लिये जिस दिन राधाजी को बुलाया होगा उसी दिन की यह उक्ति जानना ॥२०२॥

अथ श्रीराधया सह दिनान्तरकेलिः तत्र सखीवाक्यम् ।

औपच्छन्दसिकम् ।

अधुना दधिमन्थनानुबन्धं कुरुषे किं गुरुविभ्रमालसाङ्गि ?
कलसस्तनि लालसीति कुंजे मुरलीकोमलकाकली मुरारेः ॥२०३॥

समाहर्तुः ।

अथ तस्याः साकूतवाक्यम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

श्वश्रूरिङ्गितदैवतं नयनयोरीहालिहो यातरः
स्वामी निःश्वसितेऽप्यसूयति मनोजिघ्रः सपत्नीजनः ।
तद्दूरादयमंजलिः किममुना दृग्भङ्गिभावेन ते
वैदग्धीविविध-प्रबन्धरसिक ! व्यर्थोऽयमत्र श्रमः ॥२०४॥

कस्यचित् ।

श्रीराधा के साथ दिनान्तर केलि में सखी वाक्य—

दधिमन्थन का समय अतिक्रमण करके चलावनी में उलटी रई डालकर दधिमन्थन करती हुई राधा से सखी कहती है—अधिक विलास के कारण आलस्ययुक्त अङ्गों वाली राधे ! इस समय क्या तू दुबारा दधिमन्थन का अनुसरण कर रही है ? हे कलशस्तनि ! इस समय तो मुरारी की मुरली की कोमल मधुर ध्वनि निकुंज में सुशोभित हो रही है ।।२०३।।

राधा का अभिप्राययुक्त वाक्य—

अभिसार के लिये याचना करते हुए श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधिकाजी बोलीं—हे वैदग्धी विविध प्रबन्ध रसिक ! हमारे आह्वान के लिये यहाँ पर आने का आपका परिश्रम व्यर्थ ही होगा, कारण कि मेरी कर्कशा

शार्दूलविक्रीडितम् ।

संकेतीकृतकोकिलादिनिनदं कंसद्विषः कुर्वतो
द्वारोन्मोचनलोल-शंखवलयक्वाणं मुहुः श्रृण्वतः ।
केयं केयमिति प्रगल्भजरतीवाक्येन दूनात्मनो
राधाप्राङ्गणकोणकोलिविटपिक्रोडे गता शर्वरी ॥२०५॥

श्रीहरस्य ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

आहूताद्य महोत्सवे निशि गृहं शून्यं विमुच्यागता
क्षीवः प्रेष्यजनः कथं कुलवधूरेकाकिनी यास्यति ?
वत्स ! त्वं तदिमां नयालयमिति श्रुत्वा यशोदागिरो
राधामाधवयोर्जयन्ति मधुरस्मेरालसा दृष्टयः ॥२०६॥

श्रीलक्ष्मणसेनस्य ।

जटिला सासु तो इङ्गित को जानने में देवता के समान है, भौजाईयाँ नेत्रों की चेष्टा को भी चाट लेती हैं अर्थात् ताड़ लेती हैं, हमारा स्वामी श्वास लेने पर भी दोषारोपण करता है कि तू ने अकारण ही लम्बा श्वास क्यों लिया ? हमारी पद्मा आदि सखियाँ तो मन को भी सूँघ लेती हैं अर्थात् मानसिक विचार को भी जान लेती हैं । अतः मेरी तो दूर से ही यह प्रणामाञ्जलि है, आपके इस भावद्योतक कटाक्ष से यहाँ कुछ नहीं होना है, अतः क्षमा कीजिये और अपने घर पधारिये ॥२०४॥

श्रीराधा को संकेतपूर्वक बुलाने के लिये कोकिल आदि की ध्वनि करते हुए, संकेत ध्वनि को सुनकर दरवाजा खोलने के लिये आई हुई राधा की चंचल चूड़ियों की ध्वनि सुनते हुए, किवाड़ कौन खोल रही है ? किवाड़ कौन खोल रही है ? इस प्रकार के उस वृद्धा जटिला के जटिल वाक्यों से खिन्न मनस्क होते हुए श्रीकृष्ण की राधा के प्राङ्गण के कोने के बदरीवृक्ष की गोद में ही सारी रात व्यतीत हो गई ॥२०५॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

गच्छाम्यच्युत ! दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
किं त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः सम्भावयत्यन्यथा ।
इत्यामंत्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा-
माश्लिष्यन् पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः ॥२०७॥

कस्यचित् ।

श्रीयशोदाजी श्रीकृष्ण से कहती हैं—आज रात्रि के महोत्सव में मेरे द्वारा बुलाई हुई राधा अपने सूने घर को छोड़कर चली आई है, अतः शीघ्र ही घर जाना उचित है । और हमारे अन्य सब सेवक महोत्सव में मत्त हो रहे हैं, बुलाने पर भी सुनते नहीं हैं । एवं यह भले घर की बहूबेटी अकेली कैसे जायगी ? अतः बेटा ! तू ही इसको इसके घर तक पहुँचा दे । इस प्रकार यशोदाजी की वाणी सुनकर राधामाधव की मधुर ईषद् हास्य से सुशोभित स्नेहमयी दृष्टियों की सदा ही जय हो ॥२०६॥

सूर्य पूजा के लिये पुष्प चयन करती हुई राधा श्रीकृष्ण से कहती है कि—हे अच्युत ! मैं अब सूर्य पूजनार्थ जाती हूँ । आपके दर्शन से क्या मुझे तृप्ति थोड़ी होती है, तथापि मेरा यहाँ रहना उचित नहीं कारण निन्दापरायण जन एकान्त में स्थित हम तुम दोनों के प्रति अन्यथा ही सम्भावना कर लेगा । अतः निरर्थक ही कलंकित होना उचित नहीं । इस प्रकार आमन्त्रणरूप इङ्गित द्वारा सूचित किया है वृथा ठहरना जिसने, अतएव खेद और आलस्ययुक्त उस गोपी राधा को आलिङ्गन प्रदान करते हुए, जिनका शरीर पुलकावलियों से व्याप्त हो गया, वे श्रीहरि तुम्हारी रक्षा करें ॥२०७॥

अथ सखीनर्म ।

आर्या ।

सखि ! पुलकिनी सकम्पा बहिःस्थलीतस्त्वमालयं प्राप्ता ।
विक्षोभितासि नूनं कृष्णभुजङ्गेन कल्याणि ! ॥२०८॥

समाहर्तुः ।

अथ पुनरन्येद्युरभिसारिका तत्र सखीवाक्यम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

अक्लान्तद्युतिभिर्वसन्तकुसुमैरुत्तंसयन् कुन्तला-
नन्तः खेलति खंजरीटनयने ! कुंजेषु कंजेक्षणः ।
अस्मान्मन्दिरकर्मतस्तव करौ नाद्यापि विश्राम्यतः
किं ब्रूमो रसिकाग्रणीरसि घटी नेयं विलम्बक्षमा ॥२०९॥

तस्यैव ।

सखी का परिहास—

हे सखि ! तू बाहिर की भूमी से पुलकावलियों से युक्त होकर काँपती हुई अपने घर में आई है, इससे ज्ञात होता है कि हे कल्याणि ! तुझे किसी काले भुजङ्गने क्षुभित (भयभीत) कर दिया है, यह भला हुआ कि उसने तुझको डसा नहीं ।।२०८।।

दूसरे दिन की अभिसारिका के प्रति सखी वाक्य—

हे खञ्जरीटनयने ! निर्मल कान्ति वाले वसन्त ऋतु के पुष्पों से अपने केशपाश को विभूषित करते हुए, कमलनयन श्रीहरि यमुनातीरस्थ निकुंजों में खेल रहे हैं । परन्तु तेरे दोनों हाथ अभी भी घर के कामकाज से फुरसत नहीं पाते हैं । विशेष क्या कहें ? तुम तो

अथ परीक्षणकारिणीं सखीं प्रति श्रीराधावाक्यम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

लज्जैवोद्घटिता किमत्र कुलिशोद्बद्धा कपाट-स्थिति-
मर्यादैव विलङ्घिता पथि पुनः केयं कलिन्दात्मजा ?
आक्षिप्ता खलदृष्टिरेव सहसा व्यालावली कीदृशी
प्राणा एव समर्पिताः सखि ! चिरं तस्मै किमेषा तनुः ? ॥२१०

कस्यचित् ।

रसिकाओं में श्रेष्ठ हो, अतः यह घड़ी विलम्ब करने योग्य नहीं है ॥२०९॥

परीक्षा करने वाली सखी के प्रति राधा वाक्य--

मैं तो दिन में भी अभिसार के लिये राधा से कहूँगी, परन्तु यह समर्थ होगी कि नहीं, ऐसा अपने मनमें विचार करके एक सखी राधा से बोली—हे राधे ! क्या करें ? आज तो किवाड़, यमुना और मार्ग के सर्पादिक अभिसार के बहुत से प्रतिबन्ध हैं । प्रत्युत्तर देती हुई राधा कहती हैं कि—हे सखि ! जब मैंने लोकलज्जा को ही उद्घाटित कर दिया, तो फिर यहाँ के वज्र जड़ित किवाड़ों के उद्घाटन में ही कौन सी बड़ी बात है ? जब मर्यादा का ही लंघन कर दिया, तो फिर मार्गस्थ यमुना का लाँघना कौन दुस्तर है ? और जब दुष्टों की दृष्टि का ही परिहार कर दिया, तो फिर सर्पावली का परिहार करना कौन कठिन है ? और जिसके लिये प्राण ही समर्पित कर दिये, उसके लिये यह शरीर समर्पण करने में क्या आशंका है ? ॥२१०॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

द्वित्रैः केलिसरोरुहं त्रिचतुरैर्धम्मिल्लमल्लीस्रजं
कण्ठान्मौक्तिकमालिकां तदनु च त्यक्त्वा पदैः पञ्चषैः ।
कृष्णप्रेमविघूर्णितान्तरतया दूराभिसारातुरा
तन्वङ्गी निरुपायमध्वनि परं श्रोणीभरं निन्दति ॥२११॥

कस्यचित् ।

अथ वासकसज्जा ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

तल्पं कल्पय दूति ! पल्लवकुलैरन्तर्लतामण्डपे
निर्बन्धं मम पुष्पमण्डनविधौ नाद्यापि किं मुंचसि ?
पश्य क्रीडदमन्दमन्धतमसं वृन्दाटवीं तस्तरे
तद्गोपेन्द्रकुमारमत्र मिलितप्रायं मनः शङ्कते ॥२१२॥

श्रीरघुनाथदासस्य ।

इस प्रकार अपने अभिप्राय को नर्मसखी के प्रति व्यक्त करके उसके साथ जाती हुई राधा की प्रेम पराकाष्ठा का वर्णन कोई कवि इस प्रकार करते हैं—श्रीकृष्ण के प्रेम से जिनका हृदय झूमने लग गया ऐसी राधा-रानीने "अभी तो बहुत दूर चलना है" ऐसा विचार करके भूषण भार से आतुर हो दो तीन पैर चलते ही हाथ का कमल फैंक दिया । उसके बाद तीन चार चरण चलते ही केशों में बँधी हुई मल्लिका की माला भी उतार कर फैंक चलाई । तदनन्तर पाँच या छै पग चलकर अपने कण्ठ मे मोतिन की माला भी उतार दी । यह सब करने पर भी कृशाङ्गी राधा उपाय रहित हो मार्ग में केवल अपने नितम्ब भार की ही निन्दा करने लगीं ॥२११॥

अथोत्कण्ठिता ।

हरिणी ।

सखि ! स विजितो वीणावाद्यैः कयाप्यपरस्त्रिया
पणितमभवत्ताभ्यां तत्र क्षपाललितं ध्रुवम् ।
कथमितरथा शेफालीषु स्खलत्कुसुमास्वपि
प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ प्रियेण विलम्ब्यते ? ॥२१३॥

कस्यचित् ॥

अथ वासकसज्जा—

श्रीराधिकाजी अपनी दूती से कहती हैं—हे दूति ! इस लतामण्डप में पल्लवों के द्वारा शय्या की रचना करो, एवं पुष्पों के द्वारा मेरा शृङ्गार करने के प्रकार में अपना आग्रह अब भी क्यों नहीं त्यागती है ? देख, खेल सा करते हुए ही गाढ़े अन्धकारने सारे बृन्दावन को आच्छादित कर दिया । अतः गोपेन्द्रकुमार प्रायः यहाँ समीप में ही आगये हैं, मेरा मन ऐसी आशंका करता है ॥२१२॥

अथ उत्कण्ठिता—

श्रीकृष्णविरह में उत्कण्ठिता राधा अपनी सखी से कहती है—हे सखि ! मुझे तो अनुमान होता है कि हमारे प्यारे आज किसी अन्य स्त्री से वीणा के वाद्य में पराजित हो गये हैं, और उन दोनों के द्वारा यह बाजी लग गई होगी कि जो हार जायगा उसको आज की रात्रि का मङ्गलमय महोत्सव मनाना होगा । यह मेरा निश्चित सिद्धान्त है । अन्यथा शेफाली (हारसिंगार) के सारे पुष्प झड़ जाने पर, और चन्द्रमा के आकाश के मध्य में पदार्पण करने पर भी हमारे प्यारे क्यों विलम्ब करते ? ॥२१३॥

पुष्पिताग्रा ।

अरतिरियमुपैति मां न निद्रा
गणयति तस्य गुणान्मनो न दोषान् ।
विरमति रजनी न सङ्गमाशा
व्रजति तनुस्तनुतां न चानुरागः ॥२१४॥ श्रीकङ्कस्य ।

अथ विप्रलब्धा ।

आर्या ।

उत्तिष्ठ दूति ! यामो यामो यातस्तथापि नायातः ।
याऽतः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः ॥२१५॥

तस्यैव ।

श्रीराधा कहती है—हे सखि ! श्रीकृष्ण के विरह में मुझे दुःख तो यथेष्ट प्राप्त हो रहा है, परन्तु निद्रा तनिक भी नहीं आती है । इतने पर भी मेरा मन उनके गुणों को ही गिनता रहता है, दोषों को नहीं । रात्रि तो बीती जा रही है, परन्तु प्रिय मिलन की आशा निवृत्त नहीं होती । विरह के मारे मेरा शरीर तो क्षीण होता जा रहा है, किन्तु अनुराग नहीं ।।२१४।।

अथ विप्रलब्धा—

हे दूति ! उठो, चलो, चलें देखो । एक पहर व्यतीत हो गया, तथापि कान्त नहीं आये । अतः अब हमें जीना उचित नहीं । यमुना में शरीर-पात कर देंगी, उनका विरहानल हमें जलाये दे रहा है, इसके बाद जो जीवेगी, जीवितनाथ उसी के आधीन होगा ।।२१५।।

अथ खण्डिता ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागो घनः ।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः ॥२१६॥

श्रीऔत्कलस्य ॥

अथ तस्या वाक्यम् ।

शिखरिणी ।

कृतं मिथ्याजल्पैर्विरम विदितं कामुक ! चिरात्
प्रियां तामेवोच्चैरभिसर यदीयैर्नखपदैः ।
विलासैश्च प्राप्तं तव हृदि पदं रागबहुलै-
र्मया किं ते कृत्यं ध्रुवमकुटिलाचारपरया ? ॥२१७॥

श्रीरुद्रस्य ॥

अथ खण्डिता—

ललाट पटल के चारों ओर लाक्षा के चिह्न, गले में कंकण की छाप, मुख पर कज्जल की कालिमा, दोनों नयनों में गाढ़ ताम्बूलराग, प्रातःकाल कोपोत्पन्न करने वाले प्रियतम के ऐसे पूर्वोक्त विचित्र आभूषणों को देखकर, मृगाक्षी श्रीराधा के सारे श्वास लीलाकमल में ही समाप्त हो गये, अर्थात् प्रिय के अन्य सङ्गोद्बोधक चिह्नों को देखकर श्रीराधाने अपने हाथ में विद्यमान लीलाकमल से मुख ढाँक कर श्वासरहित मौनावलम्बन कर लिया ॥२१६॥

वसन्ततिलकम् ।

सार्धं मनोरथशतैस्तव धूर्त ! कान्ता
सैव स्थिता मनसि कृत्रिमभावरम्या ।
अस्माकमस्ति न हि कश्चिदिहावकाश-
स्तस्मात् कृतं चरणपातविडम्बनाभिः ॥२१८॥

तस्यैव ।

उपगीति आर्या ।

अनलंकृतोऽपि माधव ! हरसि मनो मे सदा प्रसभम् ।
किं पुनरलंकृतस्त्वं सम्प्रति नखरक्षतैस्तस्याः ? ॥२१९॥

श्रीविश्वनाथस्य ।

खण्डिता की उक्ति—

श्रीराधा की ऐसी स्थिति देखकर श्रीकृष्णने उनको मनाने के लिये जो चाटुकारिता का आरम्भ किया, तो प्रणय कोप से राधा बोलीं—हे कामुक ! अब अधिक मिथ्या बातें बनाने से कोई प्रयोजन नहीं। शान्त रहो, बहुत दिन से तुम्हारा परिचय जान लिया। अब तो जिसके अधिक अनुरागयुक्त विलासोंने एवं नख पदों के चिह्नोंने तुम्हारे हृदय में स्थान पाया है, शीघ्र ही उसी प्रियतमा के पास चले जाओ। मैं अत्यन्त सरल हूँ, अतः मुझ से तुम्हारा क्या प्रयोजन ? ॥२१७॥

हे वंचनावचनदक्ष ! तुम्हारे सैकड़ों मनोरथों के सहित कृत्रिम (बनावटी) भाव से रमणीया जो कान्ता है, वही जब तुम्हारे मनमंदिर में विराज रही है, तब हमारी जैसियों का वहाँ ठिकाना ही कहाँ है ? अतः हमारे चरणों में पड़कर अनुनय विनयरूप विडम्बना से क्या प्रयोजन ? ॥२१८॥

खण्डनाप्तनिर्वेदायास्तस्या वाक्यम् ।

शिखरिणी ।

व्यतीताः प्रारम्भाः प्रणयबहुमानो विगलितो
दुराशा याता मे परिणतिमियं प्राणितुमपि ।
यथेष्टं चेष्टन्तां विरहिवधविख्यातयशसो
विभावा मय्येते पिकमधुसुधांशु-प्रभृतयः ॥२२०॥

श्रीपुरुषोत्तमदेवस्य ।

हे माधव ! आप तो अलंकार रहित होने पर भी बलपूर्वक सदैव हमारे मन हर लेते हो। फिर इस समय तो आप उस विलासिनी के नखाघात से अलंकृत हो, तब तो कहना ही क्या है ? मैं अन्य कृत अलंकारों को देखना नहीं चाहती। अतः हमारे सामने से तो आप शीघ्र प्रस्थान करो ॥२१६॥

खण्डितानन्तर प्राप्तनिर्वेदा राधा की उक्ति—

राधा के पूर्वोक्त वचन सुनकर श्रीकृष्ण के चले जाने के बाद श्रीराधा को जो निर्वेद संचारीभाव उत्पन्न हुआ उसको लिखते हैं। निकुंज में बैठी राधा अपने आप कह रही है—हमारे प्रियमिलन विषयक सब उद्योग समाप्त हो गये, प्रणय के साथ बहुमान भी गल गया, दुराशायें भी चलीं गई, एवं जीवन धारण करने की भी यह अन्तिम सीमा आगई। अतः विरहपरायणों के वध करने वालों में विख्यात यश वाले कोयल, वसन्त, चन्द्र प्रभृति जो कि मेरे विषय में पहले उद्दीपन विभावरूप थे, वे अब अपनी यथेष्ट चेष्टा करें ॥२२०॥

वसन्ततिलकम् ।

मा मुञ्च पञ्चशर ! पञ्चशरीं शरीरे
मा सिञ्च सान्द्रमकरन्दरसेन वायो !
अङ्गानि तत्प्रणयभङ्गविगर्हितानि
नालम्बितुं क्षणमपि क्षमतेऽद्य जीवः ॥२२१॥

तस्यैव ।

अथ पुनः सायमायाति माधवे सखीशिक्षा ।

आर्या ।

कञ्चन वंचनचतुरे प्रपंचय त्वं मुरान्तके मानम् ।
बहुवल्लभे हि पुरुषे दाक्षिण्यं दुःखमुद्वहति ॥२२२॥

समाहर्तुः ।

हे पञ्चशर ! मेरे शरीर पर अब पाँचों शरों को मत छोड़ो। हे वायो ! तुम भी सान्द्र (गाढ़े) मकरन्दरस के द्वारा मुझको न सींचो। कारण कि मेरे अङ्ग प्यारे के प्रणय भङ्ग होने से निन्दित प्रायः हो गये हैं। अतः मेरा जीवात्मा आज क्षण भर भी इनको धारण करने में समर्थ नहीं है ।।२२१।।

श्रीकृष्ण को सायंकाल पुनः आते देख सखी शिक्षा—

ललिता बोली—हे राधे ! तुम आज वंचनचतुर मुरारि के प्रति किसी अनिर्वचनीय मान का विस्तार करो। कारण बहुतसी प्रेयसी वाले पुरुष के प्रति सरलता का व्यवहार करना दुःखदायक है ।।२२२।।

अथ मानिनी ।

हरिणी ।

भवतु विदितं छद्मालापै-रलं प्रिय ! गम्यतां
तनुरपि न ते दोषोऽस्माकं विधिस्तु पराङ्मुखः ।
तव यदि तथाभूतं प्रेम प्रपन्नमिमां दशां
प्रकृतिचपले का नः पीडा गते हतजीविते ? ॥२२३॥

श्रीअमरोः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

कस्त्वं तासु यदृच्छया कितव ! यास्तिष्ठन्ति गोपाङ्गनाः
प्रेमाणं न विदन्ति यास्तव हरे ! किं तासु ते कैतवम् ?
एषा हन्त हताशया यदभवं त्वय्येकताना परं
तेनास्याः प्रणयोऽधुना खलु मम प्राणैः समं यास्यति ॥२२४॥

श्रीपुरुषोत्तमदेवस्य ।

अथ मानिनी—

ललिताजी के इस प्रकार समझाने से प्रियाजी स्वभावसिद्ध मान को दृढ़ करके बैठ गईं, और अनुनय करते हुये प्रियतम से बोलीं—वही आपकी प्रेमपात्री होती है तो होने दो । उसी के साथ रमण करने से आपको सुखोदय होगा, यह भी मैंने जान लिया । अतः मुख से कपट-भरी बातें बनाने से क्या प्रयोजन ? अतः हे प्रिय ! मैं तो आपके सुख में ही सुखी हूँ, ऐसा जानकर आप वहीं पधारें । आपका तो किञ्चिन्मात्र भी दोष नहीं है । हमारे प्रति तो विधाता ही विमुख हो रहा है । और आपका अनुकूलता लक्षण प्रेम यदि क्लेशमयी दशा को प्राप्त होता है तो, स्वभाव से ही चंचल निन्दित प्राणों के निकल जाने पर भी हमें क्या पीड़ा अर्थात् जीवित दशा में मैं आपको दुःखित देखना नहीं चाहती।।२२३

निष्क्रामति कृष्णे सखीवाक्यम् ।

रथोद्धता ।

साचिकन्धरममुं किमीक्षसे यातु यातु सखि ! पूतनार्दनः ।
वामरीतिचतुरां हि पामरीं सेवतां परमदेवतामिव ॥२२५॥

समाहर्तुः ।

हे कितव ! जो गोपियाँ अपनी इच्छानुकूल कार्य करती हैं, उनके लिये आप कुछ नहीं हैं, अर्थात् आप में दृढ़ अनुराग न होने के कारण वे सुखियाँ हैं । और हे हरे ! जो आपके वास्तविक प्रेम के स्वरूप को नहीं जानतीं, उनके प्रति आपका कैतव क्या करेगा ? हाय ! इस हताशा के कारण मैं ही केवल आप में एकाग्रचित्त वाली बन बैठी । इसीलिये इस समय त्वन्निष्ठ प्रेम मेरे प्राणों के साथ चला जायगा ॥२२४॥

श्रीकृष्ण के गमन करने पर सखी वाक्य—

मानिनी राधा के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए मान को देख श्रीकृष्ण उठकर चल दिये । तब श्रीकृष्णप्राणा राधिका के मान की शिथिलता देखकर ललिताजी बोलीं—अरी सखि राधे ! तू बाँये ओर ग्रीवा करके इनको क्यों देख रही है ? इन्हें चले जाने दो, चले जाने दो । तुम जानती नहीं हो, इनका नाम है पूतनार्दन, अर्थात् जब ये छठी के दिन पूतना को घुटीकर गये तो अब किशोरावस्था में इनकी भली चलाई । अतः अपने प्राण बचाने हैं तो इनकी ओर देखो ही मत । इनको तो दिखावटी कुटिल प्रीति करने में चतुरा प्रेमरीति मूर्खा उस पामरी की ही परम देवता के समान सेवा पूजा करने दो ॥२२५॥

अथ श्रीकृष्णदूतीवाक्यम् ।

गीति आर्या ।

प्रेमावगाहनकृते मानं मा कुरु चिराय करभोरु !
नार्कणि किं नु मुग्धे ! जातं पीयूषमन्थने गरलम् ? ॥२२६॥

श्रीराङ्गस्य ।

उपगीति आर्या ।

विधुमुखि ! विमुखीभावं भाविनि ! मद्भाषणे मा गाः ।
मूढे ! निगमनिगूढः कतिपयकल्याणतो मिलति ॥२२७॥

श्रीराङ्गस्य ।

अथ श्रीकृष्ण दूती वाक्य—

तदनन्तर श्रीकृष्ण की भेजी हुई वीरानाम की दूती मान को ढीला करने के लिये प्रगलभतापूर्वक श्रीराधा से बोली—हे करभोरु ! यदि प्रेम में अवगाहन करने की इच्छा है तो बहुत देर तक मान मत करो। हे मुग्धे ! अर्थात् उत्तरकाल दुःखानभिज्ञे ! तुमने सुना नहीं है क्या, अमृत मन्थन में भी गरल उत्पन्न हो गया था ? ॥२२६॥

और हे विधुमुखि ! हे भाविनि ! मेरे भाषण में विमुखता का अवलम्बन न करो। हे मूढ़े ! देख, वेद निगूढ़ वस्तु बड़े बड़े कठोर, कितने ही निष्काम अनुष्ठानों से मिलती है, सो ही तुझको घर बैठे मिल रही है ॥२२७॥

अथ दूतीं प्रति श्रीराधावाक्यम् ।

पुष्पिताग्रा ।

अलमलमघृणस्य तस्य नाम्ना
पुनरपि सैव कथा गतः स कालः ।
कथय कथय वा तथापि दूति !
प्रतिवचनं द्विषतोऽपि माननीयम् ॥२२८॥ श्रीअङ्गदस्य ।

अथ कलहान्तरिता तां प्रति दक्षिणसखीवाक्यम् ।

शिखरिणी ।

अनालोच्य प्रेम्णः परिणतिमनादृत्य सुहृद-
स्त्वयाकाण्डे मानः किमिति सरले ! प्रेयसि कृतः ?
समाकृष्टा ह्येते विरहदहनोद्भासुरशिखाः
स्वहस्तेनाङ्गारास्तदलमधुनारण्यरुदितैः ॥२२९॥

श्रीअमरोः ।

दूती के प्रति राधा वाक्य—

हे दूती ! बस बस रहने दो। उस निर्दयी के तो नाम से भी प्रयोजन नहीं। फिर भी बारबार वही कथा । वह समय अब चला गया। तथापि हे दूती ! यदि तुम्हारा और कुछ वक्तव्य शेष हो तो कहो। कारण शत्रु का भी योग्य प्रतिवचन (प्रत्युत्तर) माननीय होता है ॥२२८॥

कलहान्तरिता राधा के प्रति चतुर सखी वाक्य—

हे सरले ! तुमने प्रेम के परिणाम की आलोचना न करके, एवं सुहृदों का अनादर करके, असमय में ही अपने प्यारे के विषय में मान

अथ कर्कशसखीवाक्यम् ।

स्वागता ।

मानबन्धमभितः श्लथयन्ती गौरवं न खलु हारय गौरि !
आर्जवं न भजते दनुजारिर्वंचके सरलता न हि साध्वी ॥२३०॥

समाहर्तुः ।

अथ तां प्रति श्रीराधावाक्यम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

भ्रूभङ्गो गुणितश्चिरं नयनयोरभ्यस्तमामीलनं
रोद्धुं शिक्षितमादरेण हसितं मौनेऽभियोगः कृतः ।
धैर्यं कर्तुमपि स्थिरीकृतमिदं चेतः कथंचिन्मया
बद्धो मानपरिग्रहे परिकरः सिद्धिस्तु दैवे स्थिता ॥२३१॥

श्रीअमरोः ।

क्यों धारण कर लिया ? हाय हाय ! तैंने तो अपने हाथों से ही विरह-रूप अग्नि से देदीप्यमान शिखा वाले इन मानरूप अङ्गारों को आकृष्ट कर लिया । अतः अब अरण्यरोदन से क्या प्रयोजन ? ॥२२९॥

कर्कशा सखी वाक्य—

श्रीकृष्णदूती के वाक्य सुनकर राधा का मान शिथिल होते देख राधा की सखी बोली—हे गौरि भोरी राधे ! तुम सर्वतोभावेन मानरूपी बन्धन को शिथिल करती हुई अपने गौरव को नहीं हरा देना । श्रीकृष्ण स्वयं तो सरलता स्वीकार करते नहीं, और तुमको पाठ पढ़ाते हैं । अतः वंचक के प्रति सरलता करनी अच्छी नहीं ॥२३०॥

वसन्ततिलकम् ।

जानामि मौनमलसाङ्गि ! वचोविभङ्गी-
भंङ्गीशतं नयनयोरपि चातुरीं च ।
आभीरनन्दनमुखाम्बुजसङ्गशंसी
वंशीरवो यदि न मामवशीकरोति ॥२३२॥ कस्यचित् ।

वसन्ततिलकम् ।

सत्यं शृणोमि सखि ! नित्यनवप्रियोऽसौ
गोपस्तथापि हृदयं मदनो दुनोति ।
युक्त्या कथंचन शमं गमितेऽपि तस्मिन्
मां तस्य कालमुरली कवलीकरोति ॥२३३॥
श्रीमत्प्रभुपादानाम् ।

अपनी सखी के प्रति राधा वाक्य--

हे सखि ! भ्रूभङ्ग करने का गुण मुझ में चिरकाल से है। नेत्रों के ईषत् निमीलन करने का अभ्यास भी कर लिया है । आदरपूर्वक हँसी को रोकने की शिक्षा भी मैंने पाली है। मौन रहने में भी अभिनिवेश कर लिया है। और इस चित्त को धैर्य धारण करने के लिये कथंचित् स्थिर भी कर लिया है, एवं मान ग्रहण किये रहने के विषय में फैंट भी कस ली है, परन्तु सिद्धि तो दैव के आधीन है, अर्थात् मेरा मान चिरस्थायी रहेगा या नहीं, इसे मैं नहीं जानती ॥२३१॥

और हे अलसाङ्गि सखि ! मैं मौन धारण करना जानती हूँ। वाणी की तरङ्गों को भी जानती हूँ, एवं नेत्रों के चलाने की सैकड़ों तरह की चातुरी भी मैं जानती हूँ, परन्तु गोपकुमार के मुखकमल के संग का सूचक वंशीरव यदि मुझको विवश न कर दे तो ॥२३२॥

अनुष्टुभ् ।

न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये ।
प्रयान्ति मम गात्राणि श्रोत्रतां किमु नेत्रताम् ।।२३४।।

कस्यचित् ।

शिखरिणी ।

मुरारिं पश्यन्त्याः सखि ! सकलमङ्गं न नयनं
कृतं यच्छृण्वन्त्या हरिगुणगणं श्रोत्रनिचितम् ।
समं तेनालापं सपदि रचयन्त्या मुखमयं
विधातुर्नैवायं घटनपरिपाटीमधुरिमा ।।२३५।।

श्रीशरणस्य ।

हे सखि ! यह गोपकुमार नित्य नवप्रिय है, यह बात मैंने तुम सबके मुख से सुनली हैं, सत्य भी है, तथापि उनका प्रेम मेरे हृदय को तप्त कर देता है, और युक्ति से किसी प्रकार उसको शान्त करने पर भी उसकी कालरूपिणी मुरली मुझको अपना ग्रास बना लेती है ।।२३३।।

और हे सखि ! प्रियतम के सम्मुख आते ही, एवं प्रिय वाक्य बोलते ही, मेरे सब अङ्ग श्रोत्रभाव को प्राप्त हो जाते हैं या नेत्रभाव को, यह मैं नहीं जानती, अर्थात् प्यारे को देखूँ कि उनके मधुर वाक्य सुनूँ, यह मैं नहीं जान पाती ।।२३४।।

हे सखि ! जिस समय मैं मुरारि का दर्शन किया करूँ, उस समय विधाता ने हमारा संपूर्ण अङ्ग को नयनमय क्यों नहीं बना दिया ? और जिस समय मैं श्रीहरि के गुणानुवाद को श्रवण किया करूँ, उस समय चारों ओर श्रोत्रों से व्याप्त क्यों नहीं कर दिया ? और जिस समय मैं उन से मीठी मीठी बातें किया करूँ, उस समय तत्क्षण मुखमय क्यों नहीं रच दिया ? हाय सखि ! विधाता की यह रचना परिपाटी माधुर्य-युक्त नहीं है ।।२३५।।

अथ सख्याः साभ्यसूयवाक्यम् ।

उपगीति आर्या ।

त्वमसि विशुद्धा सरले ! मुरलीवक्त्रस्त्रिधा वक्रः ।
भंगुरया खलु सुलभं तदुरः सखि ! वैजयन्त्येव ॥२३६॥

समाहर्तुः ।

अथ क्षुभितराधिकोक्तिः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

निःश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते
निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुखं रात्रिन्दिवं रुद्यते ।
अङ्गं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तथोपेक्षितः
सख्यः ! कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिताः ? ॥२३७॥

श्रीअमरोः ।

सखी का असूयायुक्त वाक्य—

हे सरले सखि राधे ! तू तो परम विशुद्ध है, किन्तु मुरली है मुख में जिसके, वह श्रीकृष्ण तीन जगह से टेढ़ा है । अतः वैजयन्ती की तरह जो कुटिल (टेढ़ी) होगी, उसी के लिये उनका वक्षःस्थल सुलभ है ।।२३६।।

क्षुभित राधा की उक्ति—

सखी के ऐसे वचन सुनकर कुटिलता धारण करने में असमर्थ राधा क्षुभित होकर बोली—प्रियविरह के कारण उष्ण निःश्वास परम्परा मेरे मुख को जला रही है, हृदय निर्मूल वृक्ष की भाँति उखड़ा जा रहा है, निद्रा आती नहीं है, प्रिय का मुखारविन्द भी दीखता नहीं, केवल रात

मानजविरहेण ध्यायन्तीं तां प्रति कस्याश्चिद्वाक्यम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

आहारे विरतिः समस्तविषयग्रामे निवृत्तिः परा
नासाग्रे नयनं यदेतदपरं यच्चैकतानं मनः ।
मौनं चेदमिदं च शून्यमखिलं यद्विश्वमाभाति ते
तद्ब्रूयाः सखि ! योगिनी किमसि भोः किं वा वियोगिन्यसि ?

कस्यचित् ।

अथ तां प्रति श्रीराधावाक्यम् ।

आर्या ।

सङ्गमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्य ।
एकः स एव संगे त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ॥२३९॥

कस्यचित् ।

दिन रोती रहती हूँ, सारा अङ्ग सूखा जा रहा है, मैंने चरणों में पड़े हुये प्रियतम की उपेक्षा करदी । हाय सखियो ! मान में कौनसा गुण देखकर तुम सब ने प्रिय के विषय में हम से मान करवाया ? ॥२३७॥

विरह से ध्यान करती हुई राधा के प्रति किसी सखी की उक्ति–

हे सखि ! तुम्हारी आहार में रुचि नहीं, सांसारिक समस्त विषयों की ओर से उत्कृष्ट निवृत्ति है, तुम्हारे नेत्र नासिका के अग्रभाग में लगे हुये हैं, और तुम्हारा जो मन है वह भी एकनिष्ठ हो रहा है, एवं तुमने जो यह मौन धारण कर लिया, इससे तो तुमको सारा संसार सूना सा प्रतीत होता है । अतः सखि राधे ! कहो तो सही, बहिन ! तुम योगिनी हो या वियोगिनी ? ॥२३८॥

अथ श्रीकृष्णविरहः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

संजाते विरहे कयापि हृदये सन्दानिते चिन्तया
कालिन्दीतटवेतसीवनघनच्छायानिषण्णात्मनः ।
पायासुः कलकण्ठकूजितकला गोपस्य कंसद्विषो
जिह्वावर्जिततालुमूर्च्छितमरुद्विस्फारिता गीतयः ॥२४०॥

कस्यचित् ।

उस सखी के प्रति राधा वाक्य—

हे सखि ललिते ! संयोग और वियोग इन दोनों के विकल्प में तुम मुझ से यदि पूछो कि कौन श्रेष्ठ है, तो मैं तो संयोग की अपेक्षा उनके वियोग को ही श्रेष्ठ बताऊँगी । क्यों कि संयोग में तो वह प्राणनाथ एक ही दीखता है, परन्तु वियोग में तो त्रिभुवन भी तन्मय प्रतीत होता है ॥२३९॥

अथ श्रीकृष्ण विरह—

किसी कवि की उक्ति है कि—श्रीराधाविषयक विरह के उपस्थित होने पर, किसी विशिष्ट चिन्ता द्वारा चित्त के आक्रान्त होने पर, श्रीयमुनातीरवर्ति बेतों के वन की घनी छाया में बैठे हुए, कंसनाशन गोपरूपी श्रीकृष्ण की कोकिल कूजित सदृश मनोहर, जिह्वा से आवर्जित, तालु से मूर्छित वायु द्वारा वृद्धि को प्राप्त मुरली ध्वनि की परम्परा तुम सब श्रोताओं की रक्षा करे ॥२४०॥

अथ श्रीकृष्णानुनय-राधाप्रसादनम् ।

शिखरिणी ।

शिरश्छायां कृष्णः स्वयमकृत राधाचरणयो-
र्भुजावल्लीच्छायामियमपि तदीयप्रतिकृतौ ।
इति क्रीडाकोपे निभृत-मुभयोरप्यनुनय-
प्रसादौ जीयास्तामपि गुरुसमक्षं स्थितवतोः ॥२४१॥

श्रीहरस्य ॥

अथ श्रीकृष्णं प्रति श्रीराधासखीवाक्यम् ।

आर्या ।

सा सर्वथैव रक्ता रागं गुंजेव न तु मुखे वहति ।
वचनपटोस्तव रागः केवलमास्ये शुकस्येव ॥२४२॥

श्रीगोवर्धनाचार्यस्य ।

श्रीकृष्ण के अनुनय से राधा की प्रसन्नता—

दूती आदि के द्वारा जब राधा का मान दूर न हुआ, तब श्रीकृष्णने स्वयं आकर किस प्रकार अनुनयादि द्वारा दूर किया, इस बात को श्रीहर कवि के पद्य से दिखाते हैं—श्रीकृष्णने अपने शिर की छाया से स्वयं श्रीराधा के चरणों की छाया की। अपने प्रियतम के शिर की छाया अपने चरणों पर अनुचित समझकर श्रीराधाजीने भी श्रीकृष्ण की छाया पर अपनी भुजलता द्वारा छाया कर दी। इस प्रकार गुरु जनों के सामने बैठे हुए अन्य जनों की दृष्टि के अगोचर क्रीडाकोप में विद्यमान दोनों की अनुनय और प्रसन्नता विजय को प्राप्त हो ॥२४१॥

हरिणी ।

सुभग ! भवता हृद्ये तस्या ज्वलत्स्मरपावकेऽ-
 प्यभिनिविशता प्रेमाधिक्यं चिरात् प्रकटीकृतम् ।
तव तु हृदये शीतेऽप्येवं सदैव सुखाप्तये
 मम सहचरी सा निःस्नेहा मनागपि न स्थिता ॥२४३॥

श्रीरुद्रस्य ।

श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधा सखी वाक्य—

हे श्रीकृष्ण ! श्रीराधाजी सर्वतोभावेन आपमें अनुरक्त हैं, गुंजा की तरह केवल मुख मात्र में राग धारण नहीं करतीं, अर्थात् गुंजा (घूँघची) का सारा शरीर जैसे अनुराग के मारे लाल रहता है, उसी प्रकार श्रीराधा की नस-नस में अनुराग भरा हुआ है। और गुंजा के मुख की जो कालिमा है, वह तो अनुराग छिपाने का ढक्कन है। और हे बचन-रचनापटो ! श्रीराधा के प्रति तुम्हारा अनुराग तो शुक पक्षी की भाँति दिखाने के लिये केवल मुख मात्र में है, अन्दर नहीं है ॥२४२॥

हे सौभाग्यशालिन् ! प्रज्वलित कामाग्नि विशिष्ट इस राधा के हृदय में अभिनिविष्ट होकर अर्थात् धँसकर आपने चिरकाल तक अधिक प्रेम प्रगट कर दिया। किन्तु आपके शीतल हृदय में इस प्रकार सदैव सुख प्राप्ति के लिये निःस्नेह मेरी सहचरी क्षण भर भी अवस्थित नहीं रहती। तात्पर्य यह है कि श्रीराधाजी तो ध्यान द्वारा प्रतिक्षण आपको निज हृदय में उपस्थित रखती हैं, परन्तु आप बहुवल्लभ होने के कारण अपने हृदयप्राङ्गण में श्रीराधाजी का आसन नहीं जमने देते ॥२४३॥

अथ दिनान्तरवार्ता ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

आगत्य प्रणिपात-सान्त्वितसखीदत्तान्तरे सागसि
स्वैरं कुर्वति तल्पपार्श्वनिभृते धूर्तेऽङ्गसंवाहनम् ।
ज्ञात्वा स्पर्शवशात्तया किल सखीभ्रान्त्येव वक्षः शनैः
खिन्नासीत्यभिधाय मीलितदृशा सानन्दमारोपितम् ॥२४४॥

कस्यचित् ॥

रथोद्धता ।

वस्तुतस्तु गुरुभीतया तया व्यंजिते कपटमानकुट्मले ।
पेशलप्रियसखीदृशा हरिर्बोधितस्तटलतागृहं ययौ ॥२४५॥

कस्यचित् ॥

दूसरे दिन की बात—

एक दिन सखी का वेश बनाकर नन्दकिशोर श्रीराधा के समीप गये। श्रीराधाजी उनके ध्यान में नेत्र बन्द किये शय्या पर लेट रही थीं। श्रीललिताजी चरण सेवा कर रही थीं। नमस्कार के द्वारा ललिता को सान्त्वना दे ललिता के द्वारा सेवा का अवकाश प्राप्त कर, अपराध-युक्त श्रीकृष्ण शय्या के पास गुप्त वेश से श्रीराधा के अङ्गों का संवाहन (सेवन) करने लग गये। स्वेच्छापूर्वक सेवा करते हुए श्रीकृष्ण के स्पर्श द्वारा श्रीकृष्ण को जानकर भी दूसरी सखी के भ्रम से इस प्रकार कहा कि—हे सखि! श्रीकृष्ण के विरह में तुम अत्यन्त खिन्न हो गई हो, अतः धीरे धीरे सेवा करो। ऐसे कहकर आनन्दातिरेक से नेत्र निमीलनपूर्वक राधाने उनको अपने वक्षःस्थल पर आरोपित कर लिया।।२४४

रथोद्धता ।

माधवो मधुरमाधवीलतामण्डपे पटुरटन्मधुव्रते ।
संजगौ श्रवणचारु गोपिकामानमीन-बडिशेन वेणुना ॥२४६॥

कस्यचित् ।

अथ पुष्पच्छलेन श्रीकृष्णमन्वेषयन्तीं श्रीराधां प्रति कस्याश्चिदुक्तिः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

पन्थाः क्षेममयोऽस्तु ते परिहर प्रत्यूहसम्भावना-
मेतन्मात्रमधारि सुन्दरि ! मया नेत्रप्रणालीपथे ।
नीरे नीलसरोजमुज्ज्वलगुणं तीरे तमालांकुरः
कुंजे कोऽपि कलिन्दशैलदुहितुः पुंस्कोकिलः खेलति ॥२४७॥

श्रीसर्वविद्याविनोदानाम् ।

वस्तुतस्तु सासु, ससुर आदि गुरुजनों के भय से भीत हुई राधा के द्वारा कपटपूर्वक मान की कलिका के प्रकाशित करने पर, चतुर प्रिय सखी के नेत्र के इशारे से, सब तत्त्व जानकर श्रीहरि यमुना तीरस्थ लतागृह में चले गये ।।२४५।।

चतुर भ्रमरगण जिसमें गुञ्जार कर रहे हैं, ऐसे मधुर माधवीलता के मण्डप में स्थित होकर सुचतुर माधवने गोपियों के मानरूपी मीन को वश में करने वाले बड़िश सदृश वेणु द्वारा कर्ण मनोहर गाना गाया ।।२४६।।

अथ तत्र यमुनातीरे गतया श्रीराधया सह हरेः संकथा ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

का त्वं माधवदूतिका वदसि किं मानं जहीहि प्रिये
धूर्तः सोऽन्यमना मनागपि सखि ! त्वय्यादरं नोज्झति ।
इत्यन्योऽन्यकथारसैः प्रमुदितां राधां सखीवेशवा-
न्नीत्वा कुंजगृहं प्रकाशिततनुः स्मेरो हरिः पातु वः ॥२४८॥

श्रीवासवस्य ।

पुष्पचयन के बहाने श्रीकृष्ण का अन्वेषण करती हुई राधा के प्रति किसी सखी की उक्ति—

हे सुन्दरि ! तुम्हारा मार्ग कल्याणमय हो। विघ्न की सम्भावना को त्याग दो। मैंने तो अपने नेत्र प्रणालीमार्ग में अर्थात् नेत्रों के सामने यही निर्धारित किया है कि श्रीयमुनाजी के नीर में उज्ज्वलगुण वाले नीलकमल के समान, और तीर पर वर्तमान तमालांकुर सदृश, श्रीयमुनाजी के तीरस्थ कुंज में कोई पुंस्कोकिल क्रीड़ा कर रहा है। भावार्थ—यदि तुझे भी उसके साथ खेलना है तो शीघ्र चली जा ॥२४७॥

यमुनातीरवर्तिनी राधा के साथ श्रीकृष्ण की उक्ति प्रत्युक्ति—

सखीवेशधारी कृष्ण से राधा बोली—अरी ! तू कौन है ? श्रीकृष्ण बोले—मैं माधव की दूती हूँ। राधा बोली—क्या कहती हो अर्थात् क्या कहने की इच्छा से यहाँ आई हो ? कृष्ण बोले—तुम अपने प्यारे कृष्ण के प्रति किये हुए मान को त्याग दो। बस यही कहने के लिये माधवने तुम्हारे पास भेजी है। राधा बोली—वह तो धूर्त है एवं उसका मन तो अन्य गोपियों में है। कृष्ण बोले—हे प्यारी सखि ! वह तो तुम्हारे में से किंचिद् भी आदर का त्याग नहीं करते अर्थात् तुम्हारा सदैव आदर

शिखरिणी ।

वसन्तः सन्नद्धो विपिनमजनं त्वं च तरुणी
स्फुरत्कामावेशे वयसि वयमप्याहितपदाः ।
व्रज त्वं वा राधे ! क्षणमथ विलम्बस्व यदि वा
स्फुटं जातस्तावच्चतुरवचनानामवसरः ॥२४९॥ कस्यचित् ।

अथ तत्र श्रीराधावाक्यम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

स्वामी मुग्धतरो वनं घनमिदं बालाहमेकाकिनी
क्षौणीमावृणुते तमालमलिनच्छायातमः सन्ततिः ।
तन्मे सुन्दर ! कृष्ण ! मुञ्च सहसा वर्त्मेति राधागिरः
श्रुत्वा तां परिरभ्य मन्मथकलासक्तो हरिः पातु वः ॥२५०॥
कस्यचित् ।

करते रहते हैं। इस प्रकार परस्पर के कथा रस से आनन्दित श्रीराधिका को निकुंजगृह में ले जाकर सखीवेशयुक्त जिन श्रीहरिने निज मूर्ति प्रकाशपूर्वक हास्य परिहास किया, ईषद् हास्यपरायण वही श्रीहरि तुम्हारी रक्षा करें ।।२४८।।

पुनः श्रीकृष्ण राधा से बोले—वसन्त ऋतु उपस्थित है, वन भी निर्जन है, तुम भी तरुणी हो, और स्फूर्तिशील कन्दर्प के आवेश से युक्त अवस्था में हम भी पदार्पण कर चुके हैं । अतः हे राधे ! चाहे तुम शीघ्र चली जाओ अथवा क्षण भर विलम्ब करो, तथापि चतुर सखियों के बात बनाने का तो अवसर स्पष्ट ही बन गया ।।२४९।।

अथ स्वाधीनभर्तृका ।

आर्या ।

मकरीविरचनभंग्या राधाकुचकलसमर्दनव्यसनी ।
ऋजुमपि रेखां लुम्पन् वल्लववेशो हरिर्जयति ॥२५१॥ कस्यचित् ॥

क्रीडानन्तरं श्रीकृष्णस्य स्वप्नायितम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

एते लक्ष्मण ! जानकीविरहिणं मां खेदयन्त्यम्बुदा
मर्माणीव च घट्टयन्त्यलममी क्रूराः कदम्बानिलाः ।
इत्थं व्याहृतपूर्वजन्मविरहो यो राधया वीक्षितः
सेर्ष्यं शङ्कितया स वः सुखयतु स्वप्नायमानो हरिः ॥२५२॥

श्रीशुभाङ्कस्य ।

श्रीराधा वाक्य—

श्रीकृष्ण के उदासीनता प्रधान वचन सुनकर राधा घर को चल दीं, तब श्रीकृष्णने उनके मार्ग को रोक लिया । तब श्रीराधाजी बोलीं—हमारा काल्पनिक स्वामी अत्यन्त भोला है, यह वन निबिड़ है, मैं बाला हूँ और अकेली भी हूँ, विशेष क्या कहूँ ? तमाल की सी कान्ति वाला अन्धकार समूह पृथ्वी को आच्छादित कर रहा है, अतः हे श्यामसुन्दर ! हे कृष्ण ! शीघ्र ही हमारे मार्ग को छोड़ दो । श्रीराधा की ये वाणियाँ सुनकर जो श्रीहरि उसका आलिङ्गन करके कन्दर्पकला में आसक्त हो गये, वे ही श्रीहरि तुम्हारी रक्षा करें ।।२५०।।

अथ स्वाधीनभर्तृका—

मकरी रचना रीति द्वारा श्रीराधा पीनपयोधर मर्दनव्यसनी गोपरूप-धारी श्रीहरि सीधी रेखा को भी लुप्त करते हुए जययुक्त हों ।।२५१।।

अथ वंशीचौर्यम् ।

मन्दाक्रान्ता ।

नीचैर्न्यासादथ चरणयोर्नूपुरे मूकयन्ती
धृत्वा धृत्वा कनकवलयान्युत्क्षिपन्ती भुजान्ते ।
मुद्रामक्ष्णोश्चकितचकितं शश्वदालोकयन्ती
स्मित्वा स्मित्वा हरति मुरलीमङ्कतो माधवस्य ॥२५३॥

श्रीदैत्यारिपण्डितस्य ।

क्रीडानन्तर श्रीकृष्ण का स्वप्न दर्शन—

श्रीराधा के साथ शयन करते हुए स्वप्न में श्रीहरि कहते हैं कि—हे लक्ष्मण ! ये काले काले बादल जानकी विरहयुक्त मुझको खेदयुक्त कर रहे हैं और ये कदम्ब संबंधी क्रूर वायु भी मेरे मर्मस्थानों को विदीर्ण किये दे रही हैं। इस प्रकार कहा है। पूर्व जन्म का विरह जिनने एवं स्वप्न श्रवणानन्तर "हाय ! मेरे प्राणनाथ मुझको त्याग कर जानकी में क्यों आसक्त हो गये ?" इस भाव से शंकित राधाने जिनको ईर्षापूर्वक देखा, वे ही श्रीहरि तुम सबको सुखी करें। भावार्थ यह है कि श्रीकृष्ण के श्रीरामतारूप ऐश्वर्य प्रकाश से श्रीराधाजी का भाव संकुचित होता है या नहीं, इस बात की परीक्षाकारिणी लीलाशक्तिने ही ऐसा स्वप्न प्रकाशित किया था, परन्तु माधुर्य की अधिष्ठात्री श्रीराधाजी के सामने वह लीलाशक्ति का प्रभाव समुद्र में सूर्यकान्तामणि के समान विलीयमान हो गया ॥२५२॥

वंशी की चोरी—

एक दिन श्रीराधाजीने कहा था कि—हे जीवनधन ! तुम्हारी इस मुरलीने लज्जासहित हमारी सब धर्म मर्यादा चुरा ली, अतः अवसर पाकर

अथ तां मुरलीं प्रति श्रीराधावाक्यम् ।

वसन्ततिलकम् ।

अच्छिद्रमस्तु हृदयं परिपूर्णमस्तु
मौखर्यमस्तु मितमस्तु गुरुत्वमस्तु ।
कृष्णप्रिये ! सखि ! दिशामि सदाशिषस्ते
यद्वासरे मुरलि ! मे करुणां करोषि ॥२५४॥

श्रीगोविन्दमिश्राणाम् ।

इसे चुराकर मैं भी जमनाजल में फैंक दूँगी । राधा की इस उक्ति के भय से, मुरली को वस्त्र से ढककर गोद में लेकर श्रीकृष्ण निद्रित हो गये । चोरी का सुअवसर पाकर अपने दोनों चरणों के धीरे धीरे धरने के कारण नूपुरों को गूँगे बनाती हुई, सुवर्णमय कंकणों को पकड़ पकड़ कर "आट खटको न है जाय" इस ध्येय से भुजाओं के ऊपरी भाग में फँकती हुई और यह सो रहे हैं या नहीं, इस हेतु से श्रीकृष्ण के नेत्रों की मुद्रा को निरन्तर चकित भाव से देखती हुई श्रीराधा धीरे धीरे हँस हँस कर माधव की गोदी से मुरली को चुरा रही है ॥२५३॥

मुरली के प्रति राधा का वाक्य—

मुरली को दोनों हाथों में लेकर श्रीराधिका बोलीं—हे सखि कृष्ण-प्रिये मुरलि ! जिस दिन तुम मुझ पर कृपादृष्टि वृष्टि करोगी, उसी दिन मैं तुम्हे ये सुन्दर आशीर्वाद दूँगी कि तुम्हारा हृदय अच्छिद्र अर्थात् दोषरहित हो जाय, श्रीकृष्ण के अधरामृत से परिपूर्ण हो जाय, और तुम्हारी वाचालशक्ति हो जाय, परिमिति भाव तुमको प्राप्त हो जाय, अर्थात् तुम्हारे सदृश श्रीकृष्ण की और कोई प्रिय न रह जाय, एवं तुम्हारी गुरुता हो जाय, अर्थात् श्रीकृष्ण का आदरणीय होने के कारण तुम जगत्पूज्य हो जाओ ॥२५४॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

शून्यत्वं हृदये सलाघवमिदं शुष्कत्वमंगेषु मे
मौखर्यं व्रजनाथनामकथने दत्तं भवत्या निजम् ।
तत् किं नो मुरलि ! प्रयच्छसि पुनर्गोविन्दवक्त्रासवं
यं पीत्वा भुवनं वशे विदधती निर्लज्जमुद्गायसि ? ॥२५५॥

तेषामेव ।

हे मदनमोहन मनोमोहिनी मुरलिके ! तुमने अपना सूनापन मेरे हृदय में दे दिया, और अपने हलकापन के सहित सूखापन मेरे अङ्गों में अर्पित कर दिया, एवं व्रजनाथ के नाम कहने के निमित्त अपनी मुखरता तुमने हमें समर्पित कर दी, अर्थात् तुम्हारा हृदय जैसे शून्य (पोला) है, इसी प्रकार तुमने मेरा हृदय भी कृष्ण के विरह में खाली कर दिया । तुम्हारे अङ्ग जैसे हलके और सूखे हैं, उसी प्रकार तुमने मधुर ध्वनि की धूम मचाकर मेरे भी सारे अङ्ग हलके और सूखे काठ के से बना दिये और व्रजनाथ के नाम कहने में तुम्हारी जैसे मुखरता है, वैसी ही वाचालता प्यारे के नामकीर्तन के प्रति मुझे भी दीक्षा देकर तुमने समर्पित कर दी । ये सब गुण तो तुमने अपने सहर्ष बिना मांगे ही समर्पण कर दिये, तो फिर हे मुरलि ! श्रीगोविन्द के मुखारविन्द से उस मधु को क्यों नहीं समर्पित करतीं ? जिसको पीकर त्रिभुवन को वशीभूत करती हुई तुम निर्लज्ज होकर ऊँचे स्वर से गायन करती रहती हो, अर्थात् अपना धन तुमने बिना मांगे ही सहर्ष अर्पण कर दिया, तो फिर दूसरे के धन में ऐसी कृपणता करना तुमको उचित नहीं है। भावार्थ यह है कि जिस अधरामृत का तुम प्रति दिन भरपेट पान करती रहती हो उसकी एक कणिका हमें भी चखा दो ।।२५५।।

अथ सायं हरेर्व्रजागमनम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

मन्द्रक्काणितवेणुरह्नि शिथिले व्यावर्तयन् गोकुलं
बर्हापीडकमुत्तमाङ्गरचितं गोधूलिधूम्रं दधत् ।
म्लायन्त्या वनमालया परिगतः श्रान्तोऽपि रम्याकृति-
र्गोपस्त्रीनयनोत्सवो वितरतु श्रेयांसि वः केशवः ॥२५६॥

कस्यचित् ।

तत्र कस्याश्चिदुक्तिः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

दृष्ट्या केशव ! गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया
तेनाद्य स्खलितास्मि नाथ ! पतितां किं नाम नालम्बसे ?
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ॥२५७॥

कस्यचित् ।

सायंकाल श्रीकृष्ण का व्रज में आगमन—

दिन ढरने पर वेणु की गम्भीर ध्वनि द्वारा गैयाओं को लौटाते हुए, और गोधूलि से धूम्रवर्ण मयूरमुकुट को मस्तक पर धारण करते हुए, मुरझाई सी वनमाला से युक्त, एवं गोचारण से श्रान्त होकर भी रमणीय आकृति विशिष्ट, गोपियों के नेत्रों के उत्सवस्वरूप केशव भगवान् तुम्हारे लिये समस्त कल्याण प्रदान करें ॥२५६॥

स्वागता ।

नाभिदेशविनिवेशितवेणुर्धेनुपुच्छनिहितैक-कराब्जः ।
अन्यपाणिपरिमण्डितदण्डः पुण्डरीकनयनो व्रजमाप ॥२५८॥

कस्यचित् ।

तत्रैव श्रीराधिकायाः सौभाग्यम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

भ्रूवल्लीबलनैः कयापि नयनोन्मेषैः कयापि स्मित-
ज्योत्स्नाविच्छुरितैः कयापि निभृतं सम्भावितस्याध्वनि ।
गर्वोद्भेदकृतावहेल-ललित-श्रीभाजि राधानने
सातङ्कानुनयं जयन्ति पतिताः कंसद्विषो दृष्टयः ॥२५९॥

श्रीउमापतिधरस्य ।

उस समय किसी गोपी की उक्ति—

हे केशव ! गोधूलि द्वारा मुंदी हुई दृष्टि से मुझे कुछ दीखा नहीं, अतः अपने चबूतरा से नीचे गिर पड़ी हूँ । हे गिरे पड़ों को उठाने वाले नाथ ! मार्ग में पड़ी हुई मुझको क्यों नहीं उठाते ? कारण विषमबाण-पीड़ित मन वाली सब गोपियों के अथवा दुर्घटनाओं में दुःखित मन वाली सब अबलाओं के एक मात्र आप ही आश्रय हो। गोपीने गोष्ठ में (खरिक में) जिनसे आतुर हो इस प्रकार कहा, वे ही प्रणतजन-दुःख-हरण श्रीहरि तुम्हारी चिरकाल तक रक्षा करें ।।२५७।।

जिन्होंने कमर में बँधे हुए फैंटा में नाभि के समीप वेणु धर रक्खी है, गैया की पूंछ पर एक करकमल धर रक्खा है, दूसरे हस्तकमल से लकुट की शोभा बढ़ाने वाले, वे ही पुण्डरीकनयन भगवान् वन से व्रज में पधारे ।।२५८।।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

तिर्यक्कन्धरमंसदेशमिलित-श्रोत्रावतंसं स्फुरद्-
बर्होत्तम्भित-केशपाशमनृजु-भ्रूवल्लरीविभ्रमम् ।
गुंजद्वेणुनिवेशिताधरपुटं साकूतराधानन-
न्यस्तामीलितदृष्टि गोकुलपतेर्वक्त्राम्बुजं पातु वः ॥२६०॥

श्रीलक्ष्मणसेनस्य ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

अंसासक्तकपोल-वंशवदनव्यासक्तबिम्बाधर-
द्वन्द्वोदीरित-मन्दमन्दपवन-प्रारब्धमुग्धध्वनिः ।
ईषद्वक्रिम-लोलहारनिकरः प्रत्येकरोकानन-
न्यञ्चन्नञ्चदुदञ्चदंगुलिचयस्त्वां पातु राधाधवः ॥ श्रीनाथोकस्य ।

उसी स्थान पर श्रीराधा का सौभाग्य—

श्रीउमापतिधर कहते हैं कि—मार्ग में किसी गोपी के द्वारा भ्रूलता संचालन से, किसी के द्वारा विकसित नयनों से, किसी के द्वारा ईषद् हास्यरूप चन्द्रिका प्रकाश से, किसी के द्वारा ऐकान्तिक चेष्टाओं से, संमानित श्रीहरि की जो दृष्टियाँ गर्व से उद्भिन्न, अनायास मनोहर शोभायुक्त श्रीराधा के मुखारविन्द पर भय और अनुनयपूर्वक पड़ीं, कंसारि की वे ही दृष्टियाँ जययुक्त हैं, अर्थात् उन्हीं कृपादृष्टियों की जय हो ॥२५६॥

श्रीलक्ष्मणसेनजी कहते हैं कि—गोकुलपति भगवान् का वह मुखारविन्द तुम्हारी रक्षा करें, जो वंशी बजाने के कारण गले के पास कुछ टेढ़ा है, अतएव जिसके कर्णभूषण कंधे से चिपट रहे हैं, जिसके केशपाश स्फुरित मयूरपंखों से सुशोभित हैं, जिसमें टेढ़ी भ्रूलता का विलास हो रहा है, जिसके अधरपुट पर गूँजती हुई वेणु सन्निविष्ट है, एवं जो अनुराग अथवा अभिप्रायपूर्वक श्रीराधा के मुख पर अपनी विस्फारित दृष्टि लगाये हुए है ॥२६०॥

अथ गोदोहनम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

अंगुष्ठाग्रिमयंत्रितांगुलिरसौ पादार्धनीरुद्धभू-
रार्द्रीकृत्य पयोधराञ्चलमलं द्वित्रैः पयोबिन्दुभिः ।
न्यग्जानुद्वयमध्ययंत्रितघटीवक्त्रान्तरालस्खल-
द्धाराध्वानमनोहरं सखि ! पयो गां दोग्धिं दामोदरः ॥२६२॥

श्रीशरणस्य ।

श्रीनाथोक कवि कहते हैं कि—जिसके वामस्कन्ध पर वामकपोल वंशी बजाने के कारण स्थित है, वंशी के मुख पर संलग्न दोनों बिम्बाधरों से प्रेरित मन्द मन्द पवन से प्रारम्भ कर दी है मनोहर ध्वनि जिसने, और जिसके गले में वंशी बजाते समय त्रिभङ्गी चाल से खड़े होने के कारण थोड़े थोड़े टेढ़े एवं चंचल हार निकर विद्यमान हैं, एवं वंशी के प्रत्येक मुखच्छिद्र पर जिसकी चंचल अंगुलियाँ कभी नीचे को जा रहीं है, तो कभी ऊपर को पोटुआ उठा रही हैं, वे ही श्रीराधाकान्त तुम्हारी रक्षा करें ।।२६१।।

गोदोहन लीला—

तदनन्तर अपने घर जाकर विश्राम के बाद स्नान एवं किंचिद् भोजनादि करके भगवान् गोदोहन करने पधारे । श्रीशरणकवि के पद्य से गोदोहन वर्णन करते हैं । गोदोहन करते हुए श्रीकृष्ण को दिखाती हुई एक सखी अन्य सखी से बोली—अरी सखि ! देख,दामोदर भगवान् गैया का दूध दुह रहें हैं उनकी कैसी सुन्दर शोभा है । इन्होंने दोनों चरणों के अंगुष्ठों के अग्रभाग में अन्य अंगुलिया सटा रखी हैं, और चरणों के आधे अग्रभाग से, अर्थात् एड़ी उठाकर पंजों से भूमि को रोककर बैठे हैं, एवं तत्काल

अथ श्रीकृष्णं प्रति चन्द्रावलीसखीवाक्यम् ।

शिखरिणी ।

शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः ।
तदेतत् क्वाचक्षे घृतमधुमय ! त्वद्बहुवचो
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥२६३॥

कस्यचित् ।

निकली हुई दो तीन दुग्ध की बिन्दुओं से स्तनों को खूब गीले करके, दोनों घुटनों के बीच में स्थापित दोहनी के मुख में पड़ती हुई दुग्धधारा की ध्वनि कैसी मनोहर प्रतीत होती है ।।२६२।।

श्रीकृष्ण के प्रति चन्द्रावली सखी वाक्य—

हे वंचक ! अन्य किसी प्राणप्यारी सखी की कौंधनी की मणियों की ध्वनि को सुनते ही, जिस मेरी सखी चन्द्रावली को आलिङ्गन करते हुए भी, तुमने सहसा भुजबन्धन को ढीला कर दिया, यह क्या आपकी प्रेम की रीति है ? अतः अपनी सखी के दुःख को कहाँ कहूँ और कौन से कहूँ ? हे घृतमधुमय ! अपनी आप जानें, परन्तु मेरी सखी तो आपके (मैं तेरा ही प्यारा हूँ, और तू ही मेरी प्रियतमा है) इन घृतमधु मिश्रित वचनरूपी विष से चक्कर खाती हुई आहार विहार की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देती है । आपने अच्छा विष का प्याला पिलाया । तात्पर्य बराबर मात्रा में मिला हुआ घृत और मधु विषतुल्य हो जाता है, यह कहावत प्रसिद्ध है ।।२६३।।

अथ श्रीगोवर्धनोद्धरणम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

सत्रासार्ति यशोदया प्रियगुणप्रीतेक्षणं राधया
नग्नैर्बल्लवसूनुभिः सरभसं सम्भावितात्मोर्जितैः ।
भीतानन्दितविस्मितेन विषमं नन्देन चालोकितः
पायाद्वः करपद्म-सुस्थितमहाशैलः सलीलो हरिः ॥२६४॥

श्रीसोह्लोकस्य ।

श्रीगोवर्धन धारण—

श्रीसोह्लोक कवि कहते हैं कि—गोवर्धन धारण करते समय श्रीयशोदाजी ने जिनको वात्सल्य भाव के कारण भय और पीड़ा सहित देखा, अर्थात् छोटे से कन्हैया के हाथ से कहीं पर्वत गिर न पड़े, इसलिये भय से और हाय ! मेरो बारो सो कन्हैया इतने भारी पर्वत को कैसे धारण करतो होगो ? इसलिये मानसिक पीड़ा सहित देखा । श्रीराधाजीने प्रियतम के गुणों में अनुराग भरे नेत्रों से देखा । और छोटे छोटे नग्न गोपबालकों ने "हम भी गोवर्धन धारण कर सकते हैं" इस प्रकार बल-द्योतक वचन बोलते हुए अपनी अपनी लकुटिया गोवर्धन के नीचे लगाते हुए आनन्दपूर्वक देखा । एवं श्रीनन्दजी ने जिनको अनेक भावों से व्याप्त होकर देखा, अर्थात् यह सात वर्ष का मेरा बालक सात कोस के पर्वत को धारण कर रहा है, न जाने क्या होगा ? इसलिये तो नन्दजी को भय हो रहा था, और बराबर सात दिन स्थिर भाव से धारण करने पर नन्दजी को हर्ष हुआ, एवं ईश्वर के द्वारा करने योग्य कर्म हमारे छोटे से लालाने कैसे कर दिया ? इसलिये नन्दजीने विस्मित होकर अवलोकन किया । वे ही बाँये करकमल पर अनायास गिरिराज धारण करने वाले,

शार्दूलविक्रीडितम् ।

एकेनैव चिराय कृष्ण ! भवता गोवर्धनोऽयं धृतः
श्रान्तोऽसि क्षणमास्स्व साम्प्रतममी सर्वे वयं दध्महे ।
इत्युल्लासितदोष्णि गोपनिवहे किंचिद्भुजाकुंचन-
न्यश्चच्छैलभरार्दिते विरुवति स्मेरो हरिः पातु वः ॥२६५॥

श्रीशरणस्य ॥

आर्या ।

खिन्नोऽसि मुञ्च शैलं बिभृमो वयमिति वदत्सु शिथिलभुजः ।
भरभुग्नविततबाहुषु गोपेषु हसन् हरिर्जयति ॥२६६॥ श्रीसुबन्धोः ।

एवं उस समय भी वेणुवादनादि लीला संयुक्त श्रीहरि तुम्हारी सर्वतो-भावेन रक्षा करें ।।२६४।।

गोवर्धन धारण करते हुए श्रीकृष्ण से सब गोप बोले कि—हे भैया कृष्ण ! आपने अकेले ही बहुत देर से इस गोवर्धन को धारण कर रक्खा, अतः तुम श्रान्त हो गये हो, क्षण भर ठहर जाओ, विश्राम करलो, इस समय हम सब धारण कर लेंगे । इस प्रकार कहकर सब गोपों के अपनी अपनी भुजा उठाने पर श्रीकृष्ण के अपनी भुजा के किंचित् संकुचित करते ही पर्वत के भार से पीड़ित सब गोपों के "हे कृष्ण ! रक्षा करो, रक्षा करो, हमारे वश की बात नहीं है" ऐसा कहने पर जो श्रीकृष्ण मन्द मन्द हँसने लगे, वे ही गोवर्धनधारी व्रजविहारी बनवारी तुम्हारी रक्षा करें ।।२६५।।

कविवर श्रीसुबन्धु भी कहते हैं कि—हे कृष्ण ! तुम खिन्न हो गये हो, अतः गोवर्धन को छोड़ दो । हम सब धारण कर तो रहे हैं । गोपों के ऐसे कहते ही कृष्ण ने अपनी भुजा नेक शिथिल करली, तभी भार के मारे चुरमुर होती हुई गोपों की लम्बी लम्बी भुजायें नीचे को आने

शार्दूलविक्रीडितम् ।

दूरं दृष्टिपथात्तिरोभव हरेर्गोवर्धनं बिभ्रत-
स्त्वय्यासक्तदृशः कृशोदरि ! करस्त्रस्तोऽस्य मा भूदयम् ।
गोपीनामिति जल्पितं कलयतो राधानिरोधाश्रयं
श्वासाः शैलभरश्रमभ्रमकराः कंसद्विषः पान्तु वः ॥२६७॥

श्रीशुभाङ्कस्य ।

अथ नौक्रीडा ।

आर्या ।

कुरु पारं यमुनाया मुहुरिति गोपीभिरुत्कराहूतः ।
तरितटकपटशयालुर्द्विगुणालस्यो हरिर्जयति ॥२६८॥

श्रीसञ्जयकविशेखरस्य ।

लगीं । गोपों की ऐसी दशा देखकर जो हरि हँस गये, अतः अपने सखाओं से हास्यपरायण उन्हीं श्रीहरि की जय हो ।।२६६।।

श्रीशुभाङ्क कवि कहते हैं कि—हे कृशोदरि राधे ! गोवर्धन धारण करने वाले श्रीहरि के नेत्रों के सामने से तिरोहित अर्थात् पृथक् हो जाओ । कारण तुम्हारे मुखमण्डल पर आसक्त दृष्टि वाले इसके हाथ से कहीं यह गोवर्धन न गिर पड़े । राधा के निरोध विषयक गोपों की ऐसी वाणी सुनकर श्रीकृष्ण के शैलभार जनित श्रम के सूचक तत्कालोत्पन्न लम्बे लम्बे श्वास तुम्हारी रक्षा करें । तात्पर्य—शक्तिशाली पुरुष में शक्ति न रहने से कमजोरी के कारण जैसे वह थोड़ा सा परिश्रम करते ही लम्बी लम्बी श्वासें लेने लग जाता है, उसी प्रकार ह्लादिनी शक्ति श्रीराधा के तिरोहित होते ही कृष्ण भी लम्बी लम्बी श्वासें भरने लग गये ।।२६७।।

स्रग्धरा ।

उत्तिष्ठारात्तरौ मे तरुणि ! मम तरोः शक्तिरारोहणे का
साक्षादाख्यामि मुग्धे ! तरणिमिह रवेराख्यया का रतिर्मे ?
वार्तेयं नौप्रसंगे कथमपि भविता नावयोः सङ्गमार्था
वार्तापीति स्मितास्यं जितगिरमजितं राधयाराधयामि ॥२६९॥

समाहर्तुः ।

अथ नौका लीला—

श्रीकृष्ण यमुना में जलक्रीड़ा करने के लिये योगमाया से एक नौका बनाकर जलक्रीड़ा कर रहे हैं, इस बात को किसी सखी के मुख से सुनकर श्रीकृष्ण के साथ जलविहार की इच्छा से श्रीराधा सखियों सहित यमुना किनारे पधारीं। सखियों ने आलसी की भाँति नौका में सोते हुए श्रीकृष्ण से कहा कि—हे नाविक ! हमको यमुना के उस पार पहुँचा दो, उस पार पहुँचा दो, गोपियों के द्वारा ऊँचे हाथ कर करके इस प्रकार बारंबार बुलाने पर भी नौका के किनारे कपट से शयन करने वाले, अतएव झठमूठ का दुगना आलस्य धारण करने वाले श्रीहरि की जय हो ॥२६८॥

श्रीरूप गोस्वामीजी कहते हैं कि—मैं उन अजित भगवान् की आराधना करता हूँ जो राधाजी के साथ उक्ति प्रत्युक्ति में हारकर ईषद् हास्ययुक्त मुखारविन्द से मुसक्या गये। उनकी उक्ति प्रत्युक्ति इस प्रकार है—श्रीकृष्ण बोले—हे तरुणि ! तुम शीघ्र ही हमारी तरि (नौका) पर आरूढ़ हो जाओ। तदनन्तर वक्रोक्ति प्रतिभा सम्पन्न श्रीराधाने (तरि और तरु दोनों ही शब्दों के सप्तमी विभक्ति के एक वचन में 'तरौ' ऐसा एकसा रूप बनता है) ऐसा मन में विचार कर मुख्यार्थ परित्यागपूर्वक परिहास करने की इच्छा से उत्तर दिया—तरु पर चढ़ने

वसन्ततिलकम् ।

मुक्ता तरङ्गनिवहेन पतङ्गपुत्री
नव्या च नौरिति वचस्तव तथ्यमेव ।
शङ्कानिदानमिदमेव ममातिमात्रं
त्वं चंचलो यदिह माधव ! नाविकोऽसि ॥२७०॥

समाहर्तुः ।

वसन्ततिलकम् ।

जीर्णा तरी सरिदतीव गभीरनीरा
बाला वयं सकलमित्थमनर्थहेतुः ।
निस्तारबीजमिदमेव कृशोदरीणां
यन्माधव ! त्वमसि सम्प्रति कर्णधारः ॥२७१॥

श्रीजगदानन्दरायस्य ।

की मेरी कोई शक्ति नहीं है । श्रीकृष्ण बोले—हे मुग्धे ! मैं 'तरि' अर्थात् तरणि कह रहा हूँ । श्रीराधा तरणि शब्द का नौकार्थ परित्याग करके सूर्यार्थ ग्रहणपूर्वक बोली—इस समय सूर्यके नाम से हमारी क्या रति गति ? पुनः श्रीकृष्ण बोले—यह बात तो मैंने 'नौ'का के प्रसङ्ग में कही है । श्रीराधा 'अस्मद्' शब्द की षष्ठी विभक्ति के द्विवचन में 'नौ' आदेश होता है, इसी अर्थ का अवलम्बन करके बोली—किसी प्रकार भी 'नौ' हम तुम दोनों के सङ्गम के निमित्त वार्ता नहीं हो सकती । श्रीराधा का ऐसा उत्तर सुनकर हँसते हुए श्रीहरि हारकर चुपचाप हो गये ॥२६९॥

तदनन्तर श्रीराधिका पुनः बोली—श्रीयमुनाजी इस समय तरङ्गों से रहित हैं, एवं नौका भी नवीन है, यह तो तुम्हारे वचन सोलह आना सत्य हैं, परन्तु हे माधव ! मेरे मन में अतिशय शंका का कारण तो केवल यही है कि इस घाट पर तुम चञ्चल नाविक हो, अतः चञ्चल नाविक की नौका पर बैठना उचित नहीं ॥२७०॥

आर्या ।

अम्भसि तरणिसुतायाः स्तम्भिततरणिः स देवकीसूनुः ।
आतुर-विरहित-गोप्याः कातरमुखमीक्षते स्मेरः ।।२७२॥

श्रीसूर्यदासस्य ।

वसन्ततिलकम्

वाचा तवैव यदुनन्दन ! गव्यभारो
हारोऽपि वारिणि मया सहसा विकीर्णः ।
दूरीकृतं च कुचयोरनयोर्दुकूलं
कूलं कलिन्ददुहितुर्न तथाप्यदूरम् ।।२७३॥ कस्यचित् ।

तब सभी गोपियाँ बोलीं—नौका जीर्ण है, श्रीयमुनाजी भी अति गंभीर नीर परिपूरित हैं, एवं हम सब बालिका हैं, ये तीनों बातें यद्यपि अनर्थ की कारण हैं, तथापि हे माधव ! कृशोदरी गोपिकाओं के निस्तार का एक मात्र बीज तो यही है कि इस समय तुम कर्णधार हो ।।२७१।।

तदनन्तर सब गोपियाँ नौका में बैठ गईं, नौका चल पड़ी, नौका को यमुनाजल के बीच में रोककर श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीराधा से नौका का भाड़ा मांगा । उन सब गोपियों के पास भाड़ा (नौका की उतराई) नहीं था, अतः श्रीराधा का मुख कातर हो गया । उस समय मन्द मन्द मुसक्याते हुए श्रीहरि श्रीराधा के कातर मुखचन्द्र की छवि का बारंबार अवलोकन कर रहे हैं ।।२७२।।

इस प्रकार भयभीत राधा को देख श्रीकृष्ण भी भयभीत से होकर तत्कालोचित वचन बोले—हे राधे ! मैं तो तुम सबको बिना मूल्य ही पार कर देना चाहता हूँ, परन्तु तुम सब के दधि, दूध के एवं वस्त्रा-भूषणों के भार के मारे नौका डूबी जा रही है, अतः शीघ्र पार जाना

शिखरिणी ।

पयःपूरैः पूर्णा सपदि गतघूर्णा च पवनै-
गंभीरे कालिन्दीपयसि तरिरेषा प्रविशति ।
अहो मे दुर्दैवं परमकुतुकाक्रान्तहृदयो
हरिर्वारं वारं तदपि करतालिं रचयति ॥२७४॥

श्रीमनोहरस्य ।

वसन्ततिलकम् ।

पानीयसेचनविधौ मम नैव पाणी
विश्राम्यतस्तदपि ते परिहासवाणी ।
जीवामि चेत् पुनरहं न तदा कदापि
कृष्ण ! त्वदीयतरणौ चरणौ ददामि ॥२७५॥

तस्यैव ।

चाहती हो तो तुम सब अपनी अपनी सब वस्तुयें यमुनाजी में फैंक दो । श्रीकृष्ण के कहने पर सब गोपियोंने अपनी अपनी सब वस्तुयें जल में फैंक दीं । तब श्रीराधिकाजी बोलीं—हे यदुनन्दन ! मैंने तुम्हारे कहते के साथ ही सब दही दूध का भार, गले का हार भी श्रीयमुना जल में फैंक दिया और विशेष क्या कहूँ ? इन दोनों स्तनों के ऊपर से दुपट्टा भी दूर फैंक दिया है, तथापि यमुनाजी का किनारा पास नहीं आरहा है ।।२७३।।

नौका में जल आते देख श्रीराधा बोलीं—अरी सखियो ! यह नौका तो जल समूह से परिपूर्ण होगई है, एवं वायु से घुमेर चक्कर खाकर शीघ्र ही यमुनाजी के गंभीर जल में घुसी जारही है । हाय ! आज मेरा कैसे दुर्दैव उपस्थित है, तथापि ये चंचल हरि तो परम कौतुक से हर्षित चित्त होकर बारंबार तालियाँ बजा रहे हैं ।।२७४।।

उपगीति आर्या ।

इदमुद्दिश्य वयस्याः स्वसमीहितदैवतं नमत ।
यमुनैव जानुदघ्नी भवतु न वा नाविकोऽस्त्वपरः ॥२७६॥

श्रीमुकुन्दभट्टाचार्यस्य ।

औपच्छन्दसिकम् ।

तरिरुत्तरला सरिद्गभीरा तरलो नन्दसुतश्च कर्णधारः ।
अबलाहमुपैति भानुरस्तं सखि ! दूरे नगरीह किं करोमि ?

कस्यचित् ।

तब श्रीजी अपने दोनों हाथों से सखियों सहित नौका में से जल उलीचती हुई बोलीं—हे कृष्ण ! मेरे दोनों हाथ नौका में से जल निकालने की विधि में किंचिद् भी विश्राम नहीं ले रहे हैं तो भी तुम्हारी परिहास वाणी शान्त नहीं हुई। हे कृष्ण ! मैं तुमसे ठीक कहती हूँ, यदि अबके जीती जागती अपने घर पहुँच गई तो फिर तो मैं भूल कर भी कभी भी तुम्हारी नौका में पाँव नहीं दूँगी ॥२७५॥

अरी सखियो ! अब तो ऐसे आपत्तिकाल में अपने इष्टदेव को इस उद्देश्य से नमस्कार करो कि श्रीयमुनाजी ही जानुपरिमित (घोंटुन) जल वाली हो जायँ, अथवा इष्टदेव की कृपा से अन्य कोई नाविक इस समय प्रगट हो जाय ॥२७६॥

अरी सखि ललिते ! देख, नौका तो वायु वेग से डाँवाडोल हो रही ही है, यमुनाजी भी गहरी हैं, चंचल नन्दसुत कर्णधार है, मैं अबला हूँ, और सूर्यदेव भी अस्ताचल को चले जारहे हैं, एवं हमारी नगरी भी बहुत दूर है, अब बता ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँ ? ॥२७७॥

वसन्ततिलकम् ।

नापेक्षते स्तुतिकथां न शृणोति काकुं
शश्वत्कृतं न मनुते प्रणिपातजातम् ।
हा किं विधेयमधुना सखि ! नन्दसूनु-
र्मध्येतरङ्गिणि तरिं तरलो धुनोति ॥२७८॥

समाहर्तुः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

एषोत्तुङ्गतरङ्गलङ्घिततटोत्सङ्गा पतङ्गात्मजा
पूर्णेयं तरिरम्बुभिर्न हि हरेः शङ्का कलङ्कादपि ।
काठिन्यं भज नाद्य सुन्दरि ! वयं राधे ! प्रसादेन ते
जीवामः स्फुटमातरीकुरु गिरिद्रोणीविनोदोत्सवम् ॥२७९॥

समाहर्तुः ।

हे सखि ! नन्दलाल मेरी स्तुति की परवाह नहीं करता है और विनती सुनता नहीं, बारंबार किये हुए दण्डवत् प्रणामों को मानता नहीं। हाय ! अब क्या करना चाहिये ? यह चंचल तो नदी के बीचोंबीच में नौका को लाकर कंपायमान कर रहा है ॥२७८॥

और यह सूर्यतनया यमुना ऊँची ऊँची तरङ्गों से तट का उल्लंघन कर रही है, यह नौका भी प्रायः जल से परिपूर्ण हो चुकी है, एवं कृष्ण को कलंक पंक से किंचिद् भी शंका नहीं है। राधा के ऐसे वचनों को सुनकर कृष्ण बोले—हे सुन्दरि राधे ! तुम आज इतनी कठिनता को मत धारण करो, हम तो तुम्हारी प्रसन्नता से ही जीवित हैं, अतः पर्वतगुहा में क्रीडोत्सवरूप पण्य को ही नौका के कर के रूप में परिणत करदो॥२७९

वसन्ततिलकम् ।

काकुं करोषि गृहकोणकरीषपुंज-
गूढाङ्ग ! किं ननु वृथा कितव ! प्रयाहि ।
कुत्राद्य जीर्णतरणिभ्रमणातिभीत-
गोपाङ्गनागण-विडम्बनचातुरी ते ? ॥२८०॥ समाहर्तुः।

अथ राधया सह हरेर्वाकोवाक्यम् ।

स्रग्धरा ।

अंगुल्या कः कवाटं प्रहरति कुटिले ! माधवः किं वसन्तो
नो चक्री किं कुलालो न हि धरणिधरः किं द्विजिह्वः फणीन्द्रः ?
नाहं घोराहिमर्दी किमसि खगपतिर्नो हरिः किं कपीशो
राधावाणीभिरित्थं प्रहसितवदनः पातु वश्चक्रपाणिः ॥२८१॥
कस्यचित् ।

तब एक निर्भीक सखी प्रौढोक्ति से बोली—हे गृहकोणारण्यक-पुञ्ज निगूढ़ाङ्ग ! कितववर ! अब क्यों वृथा अनुनय विनय कर रहे हो ? अपने घर पधारो । और आज जीर्णशीर्ण नौका के भ्रमण से भयभीत गोपियों के ठगने की तुम्हारी चतुराई कहाँ चली गई ? ।।२८०।।

श्रीराधा के साथ हरि के उत्तर प्रत्युत्तर—

श्रीराधाजी बोलीं—अंगुली से किवाड़ को कौन खटखटा रहा है ? श्रीकृष्ण बोले—कुटिले ! मैं हूँ, माधव । श्रीराधा बोली—तो क्या आप वसन्त हैं ? श्रीकृष्ण बोले—नहीं नहीं, मैं चक्रधारी हूँ । श्रीराधा बोली—तो क्या कुम्हार हो ? क्यों कि चक्र (चाक) को तो कुम्हार ही रखते हैं । श्रीकृष्ण बोले—नहीं बावरी ! मैं हूँ, धरणीधर । श्रीराधा बोली–तो क्या धरणी धारण करने वाले सर्प विशेष शेषजी हो ? श्रीकृष्ण

शार्दूलविक्रीडितम् ।

कस्त्वं भो निशि केशवः शिरसिजैः किं नाम गर्वायसे
भद्रे ! शौरिरहं गुणैः पितृगतैः पुत्रस्य किं स्यादिह ?
चक्री चन्द्रमुखि ! प्रयच्छसि नु मे कुण्डीं घटीं दोहनी-
मित्थं गोपवधूजितोत्तरतया ह्रीणो हरिः पातु वः ॥२८२॥

श्रीचक्रपाणेः ।

बोले—नहीं, मैं तो घोर कठोर कालिय आदि सर्पों के मान का मर्दन करने वाला हूँ। श्रीराधा बोली—तो क्या गरुड़जी हो ? वे ही तो सर्पों का मर्दन करते रहते हैं। श्रीकृष्ण बोले—मेरा नाम है, हरि। राधा बोली—तो क्या बानरराज हो ? क्यों कि हरि तो बानर को भी कहते हैं, और वानर से तो मुझे बहुत डर लगता है, अतः आप जो कोई भी बानर विशेष हो चले जाओ वन को। बानर का घरों में क्या काम ? श्रीराधाजी की इस प्रकार की वक्रोक्तियों से हास्ययुक्त मुखारविन्द वाले चक्रपाणि भगवान् तुम्हारी रक्षा करें ॥२८१॥

एक दिन श्रीकृष्ण रात्रि में श्रीराधा के समीप गये, तब श्रीराधा बोली—अजी तुम रात्रि में आने वाले कौन हो ? श्रीकृष्ण बोले—मैं हूँ, केशव। तदनन्तर कश्च ईशश्च इति केशौ, तौ वयति वशयति इति केशवः, अर्थात् ब्रह्मा और शंकर इन दोनों को वश में करने वाले को केशव कहते हैं। इस पारिभाषिक अर्थ को त्याग कर व्याकरण के अनुसार प्रशस्ताः केशाः सन्त्यस्येति केशवः इस विग्रह के अनुसार "केशाद्वाऽन्यतरस्याम्" इति व प्रत्ययान्त केशव शब्द को लक्ष्य करती हुई श्रीराधाजी बोलीं—सुन्दर केशों के कारण ही इतना गर्व क्यों करते हो ? सुन्दर केश वालों का भी संसार में कोई अभाव है क्या ? तब कृष्ण बोले—हे भद्रे ! मैं शूरसेन वंशोत्पन्न शौरि हूँ। राधा बोली—पितृगत गुणों

शार्दूलविक्रीडितम् ।

वासः सम्प्रति केशव ! क्व भवतो मुग्धेक्षणे ! नन्विदं
वासं ब्रूहि शठ ! प्रकामसुभगे त्वद्गात्रसंसर्गतः ।
यामिन्यामुषितः क्व धूर्त ! वितनुर्मुष्णाति किं यामिनी
शौरिर्गोपवधूं छलैः परिहसन्नेवंविधैः पातु वः ।।२८३।।

कस्यचित् ।

से निर्गुण पुत्र का क्या कार्य सिद्ध हो सकता है ? श्रीकृष्ण बोले—हे चन्द्रमुखि ! मेरा नाम है, चक्री । राधा बोली—यदि आप चक्र (चाक) रखने वाले कुम्भकार हो तो मेरे लिये कुण्डी, गगरिया, दोहनी देने आये हो क्या ? इस प्रकार गोपवधू श्रीराधाजी के उत्तर से जो पराजित एवं लज्जित हो गये, वे ही श्रीहरि तुम्हारी रक्षा करें ।।२८२।।

श्रीराधा बोली—हे केशव ! आजकल आपका वास (निवास) कहाँ हैं ? श्रीकृष्ण 'वास' शब्द का वस्त्रार्थ ग्रहण करते हुए बोले—हे मुग्धेक्षणे ! यह रहा हमारा वस्त्र,दीखता नहीं है क्या ? श्रीराधा बोली—हे वञ्चक ! अपने निवासस्थान को बतलाओ ? 'वास' शब्द का निवास-स्थानार्थ त्याग कर सुगन्धि प्रधानार्थ ग्रहण करके श्रीकृष्ण बोले—हे प्रकामसुभगे ! यह सुगन्धि तो तुम्हारे गात्र के संसर्ग से प्राप्त हुई है । श्रीराधा बोली—तो हे धूर्त ? यदि मेरे अंग के सम्बन्ध से यह सुगन्धी पाई है तो आज की रात्रि में कहाँ रहे, अर्थात् मेरे समीप न रहने पर भी सुगन्ध कहाँ से आ सकती है ? तदनन्तर श्रीकृष्ण 'यामिन्या-मुषितः' इस प्रकार पृथक् पृथक् वाक्य करके बोले—हे भोरीभारी राधे ! बिना शरीर वाली बेचारी रात्रि भी चोरी कर सकती है क्या ? इस प्रकार के छलमय वाक्यों से गोपवधू श्रीराधा के साथ हास्य परिहास करते हुए श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ।।२८३।।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

राधे ! त्वं कुपिता त्वमेव कु-पिता स्रष्टासि भूमेर्यतो
माता त्वं जगतां त्वमेव जगतां माता न विज्ञोऽपरः ।
देवि ! त्वं परिहासकेलिकलहेऽनन्ता त्वमेवेत्यसौ
स्मेरो बल्लवसुन्दरीमवनमञ्छौरिः श्रियं वः क्रियात् ॥२८४॥

श्रीहरिरहस्य ।

अथ रासः ।

मन्दाक्रान्ता ।

वृन्दारण्ये प्रमद-सदने मल्लिकापुष्पमोदे
श्रीशुभ्रांशोः किरणरुचिरे कोकिलाद्यैर्मनोज्ञे ।
रात्रौ चित्रे पशुपवनिता-चित्तदेहापहारी
कंसारातेर्मधुरमुरलीवाद्यराजो रराज ॥२८५॥

कस्यचित् ।

श्रीकृष्ण बोले—हे राधे ! तुम कुपिता हो, अर्थात् मेरे छलमय परिहास से कुपित हो गई हो क्या ? श्रीराधा 'कु' शब्द का कोश के अनुसार पृथिवी अर्थ कल्पना करके उत्तर देती हुई बोली—अजी ! मैं क्यों हूँ कुपिता । तुम्हीं हो कुपिता अर्थात् पृथिवी के पिता, कारण तुम्हीं तो भूमि के स्रष्टा (उत्पादक) हो । श्रीकृष्ण बोले—तुम्हीं तो समस्त जगत् की माता हो । श्रीराधा बोली—नहीं जी ! तुम्हीं तो जगत् के माता अर्थात् परिमाणकर्ता हों, तुम्हारी अपेक्षा अन्य कौन सर्वज्ञ है ? श्रीकृष्ण बोले—हे देवि ! तुम परिहासकेलि कलह करने में अनन्ता हो, अर्थात् तुम्हारे परिहास की सीमा नहीं है । श्रीराधा बोली—अजी ! ऐसे नहीं, तुम्हीं अनन्ता हो अर्थात् तुमसे कोई अधिक शक्तिशाली न

औपच्छन्दसिकम् ।

अधरामृतमाधुरीधुरीणो हरिलीलामुरलीनिनाद एषः ।
प्रततान मनःप्रमोदमुच्चैर्हरिणीनां हरिणीदृशां मुनीनाम् ॥२८६॥

श्रीमाधवेन्द्रपुरीपादानाम् ।

गीति आर्या ।

लीलामुखरितमुरलीतरलीकृतगोपभाविनीनिवहः ।
तदधरमधुनि सतृष्णः कृष्णः पायादपायतो भवतः ॥२८७॥

श्रीमाधवचक्रवर्तिनः ।

होने के कारण तुम किसी से नवते नहीं हो । 'न नन्ता अनन्ता' अर्थात् किसी को नमस्कार नहीं करते हो । श्रीराधा के ऐसा कहने पर जो श्रीकृष्ण ईषद् हास्ययुक्त हो गोपसुन्दरी श्रीराधा के प्रति नम्र हो गये, वे ही भक्तों के समक्ष नम्रता परायण श्रीकृष्ण तुम्हारी शोभा सम्पति बढ़ावें ।।२८४।।

अथ रास—

कोई कवि कहते हैं कि—मल्लिका के पुष्पों की सुगन्ध से युक्त, पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की किरणों से मनोहर, कोकिल, कीर, पतङ्ग, भृङ्ग आदि से रमणीय एवं हर्ष के स्थान श्रीवृन्दावन में आश्चर्यमयी शारद रात्रि में श्रीकृष्ण का गोपियों के चित्त और देह का अपहरणकारी, मधुरमुरलीवाद्यराज विराजमान हुआ, अर्थात् पूर्वोक्त गुण विशिष्ट श्रीवृन्दावन में श्रीवृन्दावनविहारीने सर्वमोहिनी सुधामयी मुरली बजाई ।

श्रीमाधवेन्द्रपुरीपाद कहते हैं कि—श्रीकृष्ण के अधरामृतरूप माधुरी के भार को वहन करने वाले, श्रीहरि की लीला साधिका मुरली के इस मनोहर शब्दने हरिणियों के, हरिणनयनावनिताओं के, एवं वनवासी मुनियों के मानसिक आनन्द को विशेष रूप से विस्तारित किया ।।२८६।।

उद्गीति आर्या ।

कारय नाम्ब ! विलम्बं मुञ्च करं मे हरिं यामि ।
न सहे स्थातुं यदसौ गर्जति मुरली प्रगल्भदूतीव ॥२८८॥

समाहर्तुः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

चूडाचुम्बितचारुचन्द्रकचयं चामीकराभाम्बरं
कर्णोत्तंसितकर्णिकारकुसुमं कन्दर्पकल्लोलिनम् ।
वंशीवादन-वावदूकवदनं वक्रीभवद्वीक्षणं
भाग्यं भंगुरमध्यमाः परिणतं कुंजान्तरे भेजिरे ॥२८९॥

श्रीजीवदासवाहिनीपतेः ।

श्रीमाधव चक्रवर्तीजी कहते हैं कि—जिन्होंने बजती हुई मधुरमुरली के द्वारा सकल गोपियों के चित्त को चंचलित बना दिया, एवं जो गोपियों के अधरामृत पान के प्रति सतृष्ण हैं, वे ही श्रीकृष्ण आप सब की अनिष्ट से रक्षा करें ॥२८७॥

श्रीरूप गोस्वामीजी की उक्ति है—अरी सखि ! आज मेरे वेष भूषा रचना में अधिक विलम्ब न करो, मेरे हाथ को छोड़ो, मैं तो अब आधा शृङ्गार किये हुए ही श्रीहरि के पास जा रही हूँ, तनिक देर भी यहाँ नहीं ठहर सकती, कारण कि यह मुरली प्रगल्भ दूती के समान बुलाने के लिये गर्जना कर रही है ॥२८८॥

श्रीजीवदास वाहिनीपति कहते हैं कि—परम सुन्दरी कृशोदरी गोपियों ने अनादि सिद्ध शुभ कर्मरूप अपने भाग्य को श्रीवृन्दावन की निकुञ्जों में श्रीकृष्ण के रूप में मूर्तिमान् प्राप्त किया । वह मूर्तिमान्

भाग्य कैसा है कि मनोहर मयूरपूंछ से जिसका मुकुट बना हुआ है, शुद्ध सुवर्ण के समान जिसका वस्त्र है, कर्णिकार का पीत पुष्प ही जिसका कर्णभूषण है, जो स्वयं कन्दर्प तरङ्ग स्वरूप है, वंशी बजाने मे जिसका मुखारविन्द प्रियंवद है, अर्थात् प्रिय बोलने वाला है, दोनों नयन जिसके तिरछे हैं। तात्पर्य यह है कि वंशी वाले की मधुर वंशी ध्वनि सुनकर सब कार्य त्यागकर गोपियाँ वंशी वाले के समीप उपस्थित हो गईं।।२८९

श्रीकृष्णवाक्यम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

दुष्टः कोऽपि करोति वः परिभवं शंके मुहुर्गोकुले
धावन्त्यः स्खलदम्बरं निशि वने यूयं यदभ्यागताः ।
आः का भीतिरमन्ददानववधू-सिन्दूरमुद्राहरे
दोर्दण्डे मम भाति दीव्यत पतिक्रोडे कुरङ्गीदृशः ॥२९०॥

समाहर्तुः ।

गोपियों के प्रति श्रीकृष्ण वाक्य—

अरी मृगनयनी गोपियो ! तुम सब इस रात्रि में घोर वन में मार्ग में गिरते हुए अपने वस्त्रों का भी ध्यान न रखती हुईं, एवं शीघ्रता से दौड़ती हुईं जो मेरे सम्मुख आई हो, इससे तो मैं शंका (अनुमान) करता हूँ कि गोकुल में कोई दुष्ट आकर तुम्हारा बारंबार तिरस्कार कर रहा है । अहह ! भयंकर दानवों की स्त्रियों के सिन्दूर अपहरण करने वाले मेरे भुजदण्ड के देदीप्यमान रहते हुये भय कौन सा ? जाओ, तुम अपने अपने पतियों की गोद में आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करो ।।२९०।।

मन्दाक्रान्ता ।

धूतोत्तापे वहति गहने धर्मपूरे व्रजान्तः
का वस्तृष्णा बलति हृदये दुर्मदेयं सतीनाम् ?
सीमन्तिन्यः स्पृहयत गृहान् मा विरुद्धं कुरुध्वं
नायं दृष्टौ मम विघटते हन्त पुण्यस्य पन्थाः ॥२९१॥

समाहर्तुः

अथ व्रजदेवीनामुत्तरम् ।

शिखरिणी ।

कथं वीथीमस्मानुपदिशसि धर्मप्रणयिनीं
प्रसीद स्वां शिष्यामतिखलमुखीं शाधि मुरलीम् ।
हरन्ती मर्यादां शिव शिव परे पुंसि हृदयं
नयन्ती धृष्टेयं यदुवर ! यथा नाह्वयति नः ॥२९२॥

समाहर्तुः ।

अरी गोपियो ! व्रज में त्रिविधताप रहित, दुर्गम धर्म समूह के रहते हुए भी तुम सब सतियों के हृदय में यह कौन सी दुर्दम तृष्णा वृद्धि पा रही हैं ? अतः हे महिलाओ ! तुम सब अपने घरों की इच्छा करो अर्थात् घर चली जाओ । धर्म विरुद्ध कार्य नहीं करना। और सतियों को परपुरुष के समीप जाना यह मार्ग मेरी दृष्टि में तो पुण्यमय नहीं घटता है ॥२९१॥

व्रजदेवियों का उत्तर—

हे कृष्ण ! यह आपकी कौन सी कुटिल नीति है, जो कि धर्मप्रणयिनी वीथी (मार्ग) का तो हमें उपदेश देते हो ? क्यों देते हो ? कृपा करो, प्रसन्न हो जाओ और अति खलमुख वाली अपनी शिष्या मुरली को

उपजातिः ।

गोपीजनालिङ्गितमध्यभागं वेणुं धमन्तं भृशलोलनेत्रम् ।
कलेवरे प्रस्फुटरोमवृन्दं नमामि कृष्णं जगदेककन्दम् ॥२९३॥

श्रीपुरुषोत्तमदेवस्य

शार्दूलविक्रीडितम् ।

कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसं
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम् ।
तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गते-
रक्षुण्णोऽनुनयः प्रसन्नदयितादृष्टस्य पुष्णातु वः ॥२९४॥

श्रीभट्टनारायणस्य ।

शिक्षा दो । हाय हाय ! यह धृष्ट मुरली मर्यादा का अपहरण करती हुई, परपुरुष में हृदय को आसक्त करती हुई, हमको जिस प्रकार न बुलावें, हे यदुवर ! कृपाकर ऐसी शिक्षा इसे ही दो ।।२९२।।

जिनके नेत्र विशाल हैं, जो वेणु बजा रहे हैं, गोपियों ने जिनके मध्यभाग को आलिङ्गित कर रक्खा है, अतएव जिनके श्रीविग्रह में रोमाञ्च प्रस्फुटित हो रहे हैं, उन्हीं जगत् के मूल बन्धु श्रीकृष्ण को मैं नमस्कार करता हूँ ।।२९३।।

केलिकुपिता, अश्रु-कलुषितमुखी, श्रीराधा रास विषयक रस को त्याग कर जब श्रीयमुनाजी के पुलिनों में चली गई, तब श्रीकृष्ण भी उनके पीछे पीछे उनके चरणों की प्रतिमा में चरण धरते हुए जो चले तो शरीर रोमांचित हो गया, तब श्रीराधाजीने उनको प्रसन्नता पूर्वक देखा, उन्ही श्रीकृष्ण का अक्षुण्ण अनुनय तुम सबको पुष्ट करे ।।२९४।।

श्रीकृष्णान्तर्धाने तासां प्रश्नः ।

मालिनी ।

तुलसि ! विलससि त्वं मल्लि ! जातासि फुल्ला
स्थलकमलिनि ! भृंगैः सङ्गताङ्गी विभासि ।
कथयत बत सख्यः ! क्षिप्रमस्मासु कस्मिन्
वसति कपटकन्दः कन्दरे नन्दसूनुः ? ॥२९५॥   समाहर्तुः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

दृष्टः क्वापि स माधवो व्रजवधूमादाय काञ्चिद्गतः
सर्वा एव हि वञ्चिताः सखि ! वयं सोऽन्वेषणीयो यदि ।
द्वे द्वे गच्छतमित्युदीर्य सहसा राधां गृहीत्वा करे
गोपीवेशधरो निकुंजकुहरं प्राप्तो हरिः पातु वः ॥२९६॥

कस्यचित् ।

श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर गोपियों के प्रश्न—

हे तुलसि ! तू आनन्दपूर्वक विलास कर रही है। हे मल्ली ! तू दर्शनानन्द में फूली जा रही है । हे स्थलकमलिनि ! तू भृङ्गों से संयुक्ताङ्गी हो कर सुशोभित हो रही है । अरी सखियो ! हम श्रीकृष्ण के विरह में भारी दुःखित हैं, अतः शीघ्र ही हमारे प्रति कहिये कि वह कपट का मूल नन्दलाल कौन सी गोवर्धन की गुफा में छिपकर बैठा है ? ।।२९५।।

उस समय श्रीकृष्ण गोपी का वेश बनाकर गोपियों से बोले—अरी सखियो ! वह हमारे प्यारे माधव कहीं देखे हैं क्या ? वह किसी अन्तरङ्ग व्रजवधू को लेकर चले गये हैं, हम सब तो ठगी गईं । यदि अब उनका अन्वेषण करना है तो, मैं एक युक्ति बताती हूँ उसी प्रकार करो ।

श्रीराधासखीवाक्यम् ।

शिखरिणी ।

अदोषाद्दोषाद्वा त्यजति विपिने तां यदि भवा-
नभद्रं भद्रं वा व्रजकुलपते ! त्वां वदतु कः ?
इदं तु क्रूरं मे स्मरति हृदयं यत् किल तया
त्वदर्थं कान्तारे कुलतिलक ! नात्मापि गणितः ॥२९७॥

श्रीरामचन्द्रदासस्य ।

दो दो जनी हो कर ढूँढ़ने चलो, यों कहकर सहसा राधा को अपने कर-कमल में ग्रहण कर निकुंज कुहर में पधारे, वे ही श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ।।२९६।।

श्रीराधा की सखी का वाक्य—

अन्य गोपी शिक्षार्थ जब श्रीराधाजी को भी अहंकार का पाठ खेलना पड़ा, तब श्रीकृष्ण उनको भी छोड़कर अन्तर्हित हो गये । ढूँढ़ती हुई अन्य गोपियों ने जब श्रीराधाजी को विरह मूर्च्छित देखा तब उनको साथ लेकर यमुना पुलिन में आकर, सब गोपियों ने श्रीकृष्ण दर्शनार्थ जब रोदनपूर्वक आर्तस्वर से सुस्वर गोपीगीत का गायन किया, तब श्रीकृष्ण प्रगट हो गये । तदनन्तर श्रीराधा की सखी उनसे बोली—हे व्रजपते ! आपने दोष से चाहे अदोष से, उस हमारी प्राणप्यारी सखी को त्याग दिया तथापि आपने यह अच्छा किया या बुरा किया, इस बात को आपसे कौन कह सकता है ? किन्तु हे कुलतिलक ! मेरा यह हृदय राधा के उस कठोर साहसमय कर्म को बारंबार याद करता है कि उसने आपके लिये घोर महावन में अपने शरीर को भी कुछ नहीं समझा, अर्थात् आपके अन्तर्हित होते ही, आपके विरह में मूर्च्छित हो

शार्दूलविक्रीडितम् ।

लक्ष्मीं मध्यगतेन रासवलये विस्तारयन्नात्मना
कस्तूरीसुरभिर्विलासमुरलीविन्यस्तवक्त्रेन्दुना ।
क्रीडाताण्डवमण्डलेन परितो दृष्टेन लुष्यद्दृशा
त्वां हल्लीशक-शंकु-संकुलपदा पायाद्विहारी हरिः ॥२९८॥

कस्यचित् ।

अथ तत्र खेचराणामुक्तिः ।

उपगीति आर्या ।

मुक्तमुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति ।
तत् पालयति यशोदा निकाममुपभुंजते गोप्यः ॥२९९॥

श्रीदाक्षिणात्यस्य ।

धरती पर धड़ाम से गिर पड़ी । इसकी यह स्थिति हमने स्वयं अपनी आँखों से देखी और सान्त्वना प्रदान की । परन्तु तुम बड़े कठोर निकले जो ऐसी अन्तरङ्गा सखी को भी छोड़कर छिप गये ॥२९७॥

रासमण्डल के मध्य में विराजमान अपने श्रीविग्रह से शोभा को बढ़ाते हुए, कस्तूरी मिश्रित चन्दन के लेप से सुगन्धयुक्त, श्रीरासविहारी हरि तुम्हारी रक्षा करें । कैसे श्रीविग्रह से रास की शोभा बढ़ाई उसका विशेषणों सहित वर्णन करते हैं, यथा—रासविलास की साधिका मुरली पर स्थापित किया है मुखचन्द्र जिसने, चारों ओर क्रीड़ाताण्डव मण्डल के दर्शन से सन्तुष्ट हैं नेत्र जिसके, स्त्रियों के मण्डलाकार नृत्य विशेष हल्लीशकरूप शंकु (खूँटा) से स्वेच्छागति रहित हैं चरण जिसके, ऐसे श्रीविग्रह से शोभा बढ़ाने वाले तुम्हारी रक्षा करें ॥२९८॥

उपगीति आर्या ।

तप्तं तपोभिरन्यैः फलितं तद् गोपबालानाम् ।
आसां यत् कुचकुम्भे नीलनिचोलयति ब्रह्म ॥३००॥

श्रीरघुपत्युपाध्यायस्य ।

अथ जलक्रीडा ।

गीति आर्या ।

जलकेलि-तरल-करतल-मुक्तपुनःपिहितराधिकावदनः ।
जगदवतु कोकयूनोर्विघटनसंघटनकौतुकी कृष्णः ॥३०१॥

कस्यचित् ।

आकाशचारी देवताओं की उक्ति—

रासलीला के नृत्य विशेष को देखकर विस्मित हुए देवगण बोले कि—मुक्त मुनि श्रीशुकादिकों के भी ढूँढ़ने लायक, किसी अनिर्वचनीय फल को श्रीदेवकीरूप लता फलती है, श्रीयशोदाजी उसका पालन करती है, और गोपियाँ उसका स्वेच्छापूर्वक भोजन करती हैं, अर्थात् जो अनिर्वचनीय ब्रह्म श्रीकृष्णरूप फल है वह देवकीरूप लता में लगा, श्रीयशोदाजीने उसका पालन किया और गोपियोंने उस सेवन किया, अतः गोपियाँ बड़ी भाग्यशालिनी हैं ॥२९९॥

बड़े बड़े कठोर तप तो और लोगोंने किये, परन्तु वे फलित हुए गोपियों के प्रति, कारण कि सब तपस्याओं का फलस्वरूप जो परंब्रह्म है, वह इन गोपियों के कुचकलशों पर नीली कंचुकी का सा आचरण कर रहा है अर्थात् नीली चोली बनकर बैठा हुआ गोपियों को आनन्दित कर रहा है ॥३००॥

श्रीराधासखीं प्रति चन्द्रावलीसख्याः सासूयवाक्यम् ।

वसन्ततिलकम् ।

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कृष्णस्वहस्तलिखिता नवमंजरीति ।
अन्यापि किं न सखि ! भाजनमीदृशीनां
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः ? ॥३०२॥ श्रीदामोदरस्य ।

अथ जलक्रीड़ा—

जलक्रीड़ा में चंचल करतल द्वारा श्रीराधिका के मुखचन्द्र को छोड़ कर भी पुनः पुनः आच्छादित करने वाले, अतएव यौवन सम्पन्न चकवा चकवी के जोड़े के वियोग संयोग कराने में कौतुकी श्रीकृष्ण जगत् की रक्षा करें। तात्पर्य—लोक में ऐसी प्रसिद्धि है कि दिन में तो चकवा चकवी मिल जाते हैं और रात होते ही बिछुड़ जाते हैं। अतः जलक्रीड़ा-परायण श्रीकृष्ण जब राधा के मुखरूप चन्द्र को करतल से मुक्त कर देते हैं, तब तो राधा के मुखचन्द्र को देखकर चकवा चकवी रात समझ कर परस्पर बिछुड़ जाते हैं और जब अपने करतल से ढँक लेते तब दिन समझ कर आपस में मिल जाते हैं। कौतुकी कृष्ण बारंबार ऐसा खेल करके स्वयं हँसते हैं और श्रीराधिका को हँसाते हैं, श्रीहरि लीला ही ऐसी करते हैं कि जो सुनने वालों को भी संसार के रोने से हँसा दे ॥३०१॥

श्रीराधा की सखी के प्रति चन्द्रावली की सखी का असूयायुक्तवाक्य-

श्रीकृष्ण के निज हस्तकमल से लिखित नवमंजरी मेरे कपोलों पर सुशोभित हो रही है, इस हेतु से तुम अपने मन में गर्व मत धारण करो। सखि ! और क्या कोई ऐसी नवमंजरी रचना के सौभाग्य का भाजन

अथ श्रीराधासख्याः साकूतवाक्यम् ।

आर्या ।

यदवधि गोकुलमभितः समजनि कुसुमाचितासनश्रेणी ।
पीतांशुकप्रियेयं तदवधि चन्द्रावली जाता ॥३०३॥

श्रीगोवर्धनाचार्यस्य ॥

नहीं बन सकती ? यदि रचना करते समय वैरी कम्परूप विघ्न उपस्थित न हो तो । अर्थात् श्रीकृष्ण जब हमारे कपोलों पर चित्रकारी करना आरंभ करते हैं, तभी उनके स्पर्शमात्र से शरीर रोमाञ्चित एवं कम्पित हो जाता है । अतः रचना बिगड़ जाती है, इसमें हम क्या करें ? श्रीकृष्ण का दर्शन स्पर्शन आदि पाकर भी तुम्हारे शरीर में सात्त्विक भावों का प्रादुर्भाव नहीं होता है, तो क्या तुम पत्थर की हो ? ॥३०२॥

श्रीराधा की सखी का अभिप्राययुक्त वाक्य—

हे चन्द्रावली की सखि ! बड़बड़ कर बातें न कर । देख, सुन तो सही । तेरी सखी की यौवनावस्था की बोधक दीप्तिश्रेणी गोकुल के चारों ओर जब से उत्पन्न हुई, तभी से तुम्हारी सखी चन्द्रावली पीताम्बरधारी की प्रिया बन गई । अर्थात् युवावस्था में तो बुरी, बावरी, कारी, पीरी सभी की कान्ति अच्छी बन जाती है । बाल्यावस्था में ऐसी नही रहती । भावार्थ यह है कि—चन्द्रावली में तो श्रीकृष्ण की प्रीति युवावस्था में ही तात्कालिक हुई है, और सदा एकरस परमसुन्दरी हमारी सखी श्रीराधा में तो सदा से ही गाढ़ प्रीति है । अतः तुमको उनसे असूया करना उचित नहीं ॥३०३॥

गान्धर्वां प्रति सखीवाक्यम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

सौजन्येन वशीकृता वयमतस्त्वां किञ्चिदाचक्ष्महे
कालिन्दीं यदि यासि सुन्दरि ! पुनर्मा गाः कदम्बाटवीम् ।
कश्चित्तत्र नितान्तनिर्मलतमःस्तोमोऽस्ति यस्मिन् मनाग्
लग्ने लोचनसीम्नि नोत्पलदृशः पश्यन्ति पत्युर्गृहम् ॥३०४॥

श्रीगोविन्दभट्टस्य ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

श्यामोऽयं दिवसः पयोदपटलैः सायं तथाप्युत्सुका
पुष्पार्थं सखि ! यासि यामुनतटं याहि व्यथा का मम ?
किन्त्वेकं खरकण्टकक्षतमुरस्यालोक्य सद्योऽन्यथा
शंकां यत् कुटिलः करिष्यति जनो जातास्मि तेनाकुला ॥३०५

श्रीकर्णपूरस्य ।

श्रीराधा के प्रति सखी वाक्य—

हे सुन्दरि सखि राधे ! हम तुम्हारी सुजनता से तुम्हारे वशीभूत हैं, अतः किंचित् निवेदन करती हूँ कि—यदि तुम यमुना तीर पर जारही हो तो भले ही चली जाओ, परन्तु वहाँ पर विद्यमान जो कदम्ब वन है उसकी ओर भूलकर भी नहीं जाना। कारण वहाँ पर नितान्त-निर्मल अन्धकार समूह मूर्तिमान् होकर रहता है। नेत्रप्रान्त में सिद्धाञ्जन के समान जिसके किंचित् अंश के लगते ही कमलनयनी स्त्रियाँ भी अपने पति के घर को नहीं देख पातीं, अर्थात् उस दिव्य चैतन्य अन्धकार में आसक्त होकर पति के घर का रास्ता भी भूल जाती हैं ।।३०४।।

मन्दाक्रान्ता ।

गन्तव्या ते मनसि यमुना वर्तते चेत्तदानीं
कुंजं मा गाः सहजसरले ! वांजुलं मद्वचोभिः ।
गच्छेस्तत्राप्यहह यदि वा मा मुरारेरुदारे
कुत्राप्येका रहसि मुरलीनादमाकर्णयेथाः ॥३०६॥

श्रीतैरभुक्तकवेः ।

आर्या ।

तरले ! न कुरु विलम्बं कुम्भं संभृत्य मन्दिरं याहि ।
यावन्न मोहनमंत्रं शंसति कंसद्विषो वंशी ॥३०७॥

समाहर्तुः ।

और हे सखि ! मेघ समूह के द्वारा आज का दिन श्यामवर्ण सा हो रहा है, और सायंकाल भी प्रायः उपस्थित हो गया, अर्थात् सूर्य अस्ताचल को जाना ही चाहता है, तथापि तू उत्सुक होकर पुष्पचयन के निमित्त यमुनातट पर जारही है तो जा, इससे मुझे क्या दुःख ? किन्तु अन्धकार में भूल से तुम्हारे वक्षःस्थल में लगे हुए एक भी काँटे के चिह्न को देख कर कुटिलजन शीघ्र ही अन्यथा शंका कर बैठेंगे । इसी हेतु से मैं व्याकुल हो रही हूँ ॥३०५॥

और हे सखि ! तुम स्वभाव से ही सरल हो, इसलिये मैं तुमसे हित की बात कहती हूँ । यदि तुम्हारे मन में अवश्य ही यमुना जाने की आकांक्षा है तो भले ही चली जाओ, परन्तु मेरे वचनों से वहाँ पर विद्यमान अशोक की कुंज में नहीं जाना । और हे उदार स्वभावे ! यदि वहाँ भी कथंचित् पहुँच जाओ तो, एकान्त में अकेली बैठकर मुरारि की मुरली की ध्वनि को नहीं सुनना । नहीं तो मृग जैसे बहेलिये के गायन में फँस जाता है, उसी प्रकार तुम भी चक्कर में पड़ जाओगी ॥३०६॥

वसन्ततिलकम् ।

पृष्ठेन नीपमवलम्ब्य कलिन्दजायाः
कूले विलासमुरलीं क्वणयन् मुकुन्दः ।
प्राक् पूरणात् कलसमम्भसि लोलयन्त्या
वक्त्रं विवर्तयति गोपकुलाङ्गनायाः ॥३०८॥

कस्यचित् ।

वसन्ततिलकम्

सख्यो ययुर्गृहमहं कलसीं वहन्ती
पूर्णामतीवमहतीमनुलम्बितास्मि ।
एकाकिनीं स्पृशसि मां यदि नन्दसूनो !
मोक्ष्यामि जीवनमिदं सहसा पुरस्ते ॥३०९॥

समाहर्तुः ।

सखी के ऐसे वचन सुनकर, सखियों सहित राधा जब जल भरने यमुना पर पहुँच गई, तब विलम्ब करती हुई राधा के प्रति सखी बोली– हे तरले ! विलम्ब मत कर, घड़ा को भरकर शीघ्र ही अपने घर चली चल। जब तक कंसशत्रु श्रीकृष्ण की वंशी मोहिनी मन्त्र का पाठ नहीं करती, उससे पहले सकुशल घर पहुँच जाय तो बहुत अच्छा हो ॥३०७॥

सखी के वचन को न मानकर राधानें जो विलम्ब किया, उसी समय अपने पृष्ठ भाग से, अर्थात् पीठ से कदम्ब वृक्ष का आश्रय लेकर, त्रिभङ्ग ललित चाल से खड़े होकर, यमुनातीर पर, विलास साधिका मुरली को बजाते हुए श्रीकृष्ण, जल भरने से पहले जल में डुबाने के लिये कलसे को हिलाती हुई गोपकुलाङ्गना श्रीराधा के मुखचन्द्र को अपनी ओर निवर्तित करने लग गये ॥३०८॥

तां प्रति कस्याश्चिदुक्तिः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

वल्गन्त्या वनमालया तव हृतं वक्षोजयोश्चन्दनं
गण्डस्था मकरीघटा च मकरान्दोलेन विध्वंसिता ।
क्लान्ता स्वैरतरङ्गकेलिभिरियं तन्वी च धूर्ते ! तनुः
सत्यं जल्पसि भानुजामभि रसे मग्नाद्य हर्षादभूः ॥३१०॥

समाहर्तुः ।

तदनन्तर सखियाँ तो अपने वचन न मानने से कुपित सी हो जल भरकर अपने अपने घर चल दीं। तब अकेली राधा शंकाकुल होकर समीप में आते हुये श्रीकृष्ण से बोली—हे नन्दलालजी ! मेरी सखियाँ तो जल भरकर अपने अपने घर चली गई हैं। मेरी कलसी सब से बड़ी है अतः परिपूर्ण उस भारी कलसी को ले जाती हुई मुझे कुछ विलम्ब हो गया है, इसीलिये मैं पीछे रह गई हूँ, परन्तु मुझ अकेली को यदि तुम जरा भी छूओगे तो तुम्हारे सामने अभी अपने इन प्राणों को छोड़ दूँगी ॥३०९॥

राधा के प्रति किसी सखी की उक्ति—

घर में आती हुई राधा के शरीर में कुछ प्रीति के चिह्न देखकर परिहासपरायण एक सखी उससे कुछ प्रश्न करती है और श्रीराधा भी व्याजोक्ति से उत्तर देती है। उनके प्रश्नोत्तर इस प्रकार हैं—सखी बोली—हे राधे ! तुम्हारे पयोधरों का चन्दन लेप कैसे अपहृत हो गया ? श्रीराधा बोली—चलती हुई जलमाला से अर्थात् स्नानार्थ मैं यमुना में धँसी तभी जलमाला से अदृश्य हो गया। "जीवनं भुवनं वनम्" इस अमरकोश प्रमाण से वन नाम जल का भी है, अतः राधा की

चन्द्रावलीं प्रति तस्या वाक्यम् ।

वसन्ततिलकम् ।

कात्यायनीकुसुमकामनया किमर्थं
कान्तारकुक्षिकुहरं कुतुकाद्गतासि ?
पश्य स्तनस्तवकयोस्तव कण्टकाङ्कं
गोपः सुकण्ठि ! बत पश्यति जातकोपः ॥३११॥

समाहर्तुः ।

व्याजोक्ति सिद्ध हो गई। श्लेषार्थ स्पष्ट ही प्रतीत हो रहा है। उसका लिखना पुनरुक्त होगा अतः नहीं लिख रहे हैं। सखी बोली—तुम्हारे कपोलों की मकरीघटा कैसे बिगड़ गई ? राधा बोली—मैंने यमुनाजी में जो मुख डुबाया तभी छोटी छोटी मछलियों ने आन्दोलन कर दिया, बस उससे सारी मकरी रचना समाप्त हो गई। सखी बोली–हे वंचके ! वास्तविक बात छिपाने के लिये युक्तियाँ तो खूब भिड़ाईं, परन्तु ये तो बताओ तुम्हारा यह स्वाभाविक कृश शरीर क्यों क्लान्त (श्रान्त) सा हो रहा है ? राधा बोली—स्वेच्छापूर्वक यमुना की तरङ्गों में तैरती रही, अतः तुझे थकी माँदी सी दीख रही हूँ। सखी बोली—हाँ सखि राधे ! तू बिलकुल सत्य कहती है। मैं भी जानती हूँ कि आज तू श्रीयमुनाजी के जल में खूब गोता लगाती रही है ॥३१०॥

चन्द्रावली के प्रति सखी वाक्य—

पुष्पचयन करके घर को लौटती हुई चन्द्रावली के प्रति उसकी सखी बोली—हे सुकण्ठि ! कात्यायनी देवी की पूजा के लिये पुष्पों की कामना से तू आज कौतुक से घोर जंगल के दुर्गम स्थानों में क्यों चली गई थी ? हाय ! बड़े खेद की बात तो यह है, देख तेरे दोनों स्तनों के ऊपर लगे हुए काँटे के चिह्न को तेरा पति क्रोध में भरकर बारंबार देख रहा है ॥३११॥

तद्भर्तारं प्रति सखीवाक्यम् ।

आर्या ।

सुभग ! मम प्रियसख्याः किमिव सशङ्कं मुहुर्विलोकयसि ?
यामुनपवनविकीर्णप्रियकरजःपिंजरं पृष्ठम् ॥३१२॥

समाहर्तुः ।

अथ नित्यलीला ।

अनुष्टुभ् ।

बृन्दावने मुकुन्दस्य नित्यलीला विराजते ।
स्पष्टमेषा रहस्यत्वाज्ज्ञानद्भिरपि नोच्यते ॥ ३१२ क

चन्द्रावली के पति के प्रति सखी वाक्य—

हे सौभाग्यशालिन् ! तुम मेरी प्यारी सखी चन्द्रावली की पीठ को शंकापूर्वक बारबार क्यों देख रहे हो ? इसकी पीठ तो यमुनाजी के तीर सम्बन्धी वायु से फैंकी हुई वायु से पीली पड़ रही है, अर्थात् केवल तुम्हारे में ही अनुराग करने वाली इस सतीसाध्वी में अन्य आशंका करना उचित नहीं ॥३१२॥

अथ नित्यलीला—

प्रोषिद्भर्तृका का उल्लंघन करके संग्रहकर्ताने स्वाधीनभर्तृका का जो वर्णन किया, इसका तात्पर्य यह है कि वास्तविक में नित्यलीला में गोपियाँ का कभी भी श्रीकृष्ण से वियोग होता नहीं । और प्रगट लीला में भी जो विरहाभास होता है उसका श्रीउद्धवजीने समाधान कर दिया । अतः नित्यलीला का दिग्दर्शन करते हैं—भगवान् मुकुन्द की श्रीवृन्दाबन में नित्यलीला विराजमान रहती है । किन्तु इस नित्यलीला के रहस्य को जो भली प्रकार जानते हैं, वे श्रीशुकादि भी अति गोपनीय

शार्दूलविक्रीडितम् ।

ताभिर्नित्यविहारमेव तनुते वृन्दावने माधवो
गोष्ठाम्भोजमुखीभिरित्यभि मनाक् प्रोचे प्रियायै हरः ।
लीलारत्नरहस्यता व्रजपतेर्भूयस्यहो पश्य य-
त्तत्त्वज्ञोऽपि पुरान्तरे च गमनं व्याचष्ट वैयासकिः ॥३१२ ख॥

अनुष्टुभ् ।

तथा हि पाद्मे पार्वत्यै व्याजहार हरो रहः ।
गोगोपगोपिकासंगे यत्र क्रीडति कंसहा ॥३१२ ग॥

होने के कारण स्पष्ट रूप से इसका प्रतिपादन नहीं करते हैं। इङ्गित मात्र कर जाते हैं। अधिकारी भक्त उसको समझ लेते हैं ॥३१२ क॥

श्रीमाधव भगवान् वृन्दावन में गोकुलस्थ कमलमुखी गोपियों के साथ नित्य विहार करते रहते हैं। श्रीमहादेवजीने पार्वती के प्रति यह बात संक्षेप से कही है। अरे भाइयो ! देखो, व्रजपति श्रीकृष्ण की लीलारत्न रहस्यता कितनी भारी गोपनीय है। इसीलिये तो तत्त्वज्ञ मुनि श्रीशुकदेवजीने व्रज के रहस्य को छिपाने के लिये मथुरा गमनादि लीलाओं का सविस्तार वर्णन किया ॥३१२ ख॥

इसी विषय को पद्मपुराण में श्रीमहादेवजीने पार्वती के प्रति गोप्यत्वेन एकान्त में वर्णन किया है कि देख पार्वती ! जिस वृन्दावन में कंसनिसूदन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र गो, गोप और गोपियों के सङ्ग नित्य क्रीड़ा करते रहते हैं वह वृन्दावनीय नित्यलीला गोपनीय है। अनधिकारी के सामने उसका प्रकाश करना उचित नहीं ॥३१२ ग॥

अथ प्रकटलीलानुसारेण भाविनि हरेर्मथुरा-प्रस्थाने राधासखीवाक्यम् ।

वसन्ततिलकम् ।

अद्यैव यत् प्रतिपदुद्गतचन्द्रलेखा-
सख्यं त्वया वपुरिदं गमितं वराक्याः ।
कृष्णे गते कुसुमसायक ! तत्प्रभाते
बाणावलिं कथय कुत्र विमोक्ष्यसि त्वम् ॥३१३॥

श्रीरुद्रस्य ।

अथ श्रीराधावाक्यम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्त्रैरजस्त्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
गन्तुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित ! प्रियसुहृत्सार्थः कथं त्यज्यते ? ॥३१४॥

श्रीअमरोः ।

प्रकटलीला के अनुसार होने वाले श्रीहरि के मथुरा प्रस्थान के विषय को लक्ष्य करके राधा सखी वाक्य—

आकाश की ओर नेत्र लगाकर सखी बोली—हे कुसुमसायक-कन्दर्प ! तुमने तो आज ही बेचारी श्रीराधा का यह स्वाभाविक कृश शरीर द्वितीया के दिन उदय होने वाली चन्द्ररेखा के समान बना दिया, तो बताओ कल प्रातःकाल श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर तुम अपनी बाणावली को किस पर छोड़ोगे ? अर्थात् श्रीकृष्ण कल मथुरा चले

अथ हरेर्मथुराप्रवेशः ।

वसन्ततिलकम् ।

छायापि लोचनपथं न जगाम यस्याः
सेयं वधूर्नगरमध्यमलङ्करोति ।
किं चाकलय्य मथुरानगरे मुकुन्द-
मन्धोऽपि बन्धुकरदत्तकरः प्रयाति ॥३१५॥

श्रीवाणीविलासस्य ।

जायँगे इस समाचार को सुनते ही तो राधा प्रतिपदा के अदृश्य चन्द्रमा की सी हो गई है, फिर कल चले जाने के बाद कैसे जीवित रहेगी ? जब जीवित ही न रहेगी तो तुम अपने पुष्पशरों की वृष्टि किस पर करोगे ? अतः कृपया जीवित रहने दो ॥३१३॥

अथ श्रीराधा वाक्य—

श्रीकृष्ण के मथुरा प्रस्थान कर देने के पश्चात् श्रीराधिकाजी अपने प्राणों से बोलीं कि—मेरे वलय (कंकण) तो पहले ही प्रस्थान कर गये, कृष्ण के वियोग में प्रियमित्र अश्रुओंने निरन्तर जाना आरम्भ कर दिया, धैर्य तो तनिक काल भी मेरे पास नहीं ठहरा, तत्काल कृष्ण के साथ चल दिया, और मेरे चित्तने तो श्रीकृष्ण से भी आगे चलने का निश्चय कर लिया, विशेष क्या कहूँ ? प्रियतम के जाने के लिये निश्चित चित्त करते ही ये सब के सब प्रियतम के साथ ही चले गये । अतः हे मेरे प्राण ! यदि तू भी जाना चाहता है तो यह तुम्हारा प्रियवर्ग मेरा देहादि इसको क्यों छोड़े जा रहा है ? अर्थात् इस देह को भी साथ ही उड़ाकर श्रीकृष्ण से मिला दे । तुमको अकेले ही मिलना उचित नहीं । यहाँ पर विरह में शरीर कृश हो जाने के कारण अपने स्थान को छोड़ देना ही कङ्कणों का प्रस्थान जानना ॥३१४॥

तत्र पुरस्त्रीणां वाक्यम् ।

उपगीति आर्या ।

अस्रमजस्रं मोक्तुं धिङ् नः कर्णायते नयने ।
द्रष्टव्यं परिदृष्टं तत् कैशोरं व्रजस्त्रीभिः ॥३१६॥

श्रीतैरमुक्तकवेः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

सान्द्रानन्दमनन्तमव्ययमजं यद्योगिनोऽपि क्षणं
साक्षात्कर्तुमुपासते प्रतिदिनं ध्यानैकतानाः परम् ।
धन्यास्ता व्रजवासिनां युवतयस्तद्ब्रह्म याः कौतुका-
दालिङ्गन्ति समालपन्ति शतधा कर्षन्ति चुम्बन्ति च ॥३१७॥

श्रीवाहिनीपतेः ।

श्रीकृष्ण का मथुरा प्रवेश—

श्रीवाणीविलास कवि कहते हैं कि—जिसके शरीर की छाया भी कभी किसी के नेत्रों के सामने नहीं गई वह कुलवधू आज मथुरानगर के मध्य भाग को अपनी शोभा से अलंकृत कर रही है और विशेष क्या कहें ? श्रीकृष्णचन्द्र मथुरा में आ गये हैं, इस समाचार को पाकर तो अन्धा व्यक्ति भी अपने बन्धु का हाथ पकड़ कर दौड़ता चला आता है, अर्थात् श्रीकृष्ण दर्शन की उत्सुकता में सभी मथुरा वासियों की विचित्र स्थिति हो गई ॥३१५॥

मथुरापुर की स्त्रियों के वाक्य—

हमारे इन कर्ण पर्यन्त विस्तीर्ण नेत्रों को धिक्कार है । ये तो केवल निरन्तर आँसू बहाने के लिये ही बने हैं । कारण कि श्रीकृष्ण को देखने

पुष्पिताग्रा ।

प्रियसखि ! न जगाम वामशीलः
स्फुटममुना नगरेण नन्दसूनुः ।
अदलित-नलिनीदलैव वापी
यदहतपल्लव एव काननान्तः ॥३१८॥ श्रीकुमारस्य ।

योग्य जो किशोरावस्था है, उसको तो व्रजगोपियों ने ही भली प्रकार देख लिया, अर्थात् उन्हीं के नेत्र धन्य हैं ॥३१६॥

जो ब्रह्म स्वयं गाढ़ आनन्दस्वरूप, अनन्त, अव्यय एवं अज है, और जिसका क्षणभर साक्षात्कार करने के लिये योगीजन भी ध्यानपरायण होकर प्रतिदिन जिसकी उपासना करते रहते हैं, तथापि हृदय में भी जिसकी नेक सी झाँई नहीं पड़ती, अहह ! धन्य तो वे व्रजवासियों की युवतियाँ हैं, जो उसी ब्रह्म को कौतुक से आलिङ्गन करती हैं, उसके साथ सैकड़ों प्रकार की मीठी मीठी बातें बतराती रहती हैं, और प्रेम से उसकी खैंचातानी एवं चुंबन करती रहती हैं ॥३१७॥

हे प्रिय सखि ! मुझे तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि—मनोहर शीलसम्पन्न नन्दनन्दन इस नगर से अभी नहीं गये हैं, अर्थात् हमारे बाजार में होकर अभी नहीं निकले हैं, कारण कमलिनियों के दल अभी वैसे के वैसे हैं । यह सामने की वापी (बावड़ी) ऐसी ही दीख रही है, और इस उपवन के पल्लव भी अभी छिन्न भिन्न नहीं हुए हैं, अर्थात् यदि कृष्ण यहाँ होकर निकल गये होते तो उनकी सेवा के लिये कमलिनियों के पुष्प तोड़ लिये गये होते, और तोरण बंदनवार के लिये आम्रपल्लव भी तोड़ लिये होते ॥३१८॥

अथ श्रीराधायाः विलापः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

यास्यामीति समुद्यतस्य वचनं विस्रब्धमाकर्णितं
गच्छन् दूरमुपेक्षितो मुहुरसौ व्यावृत्य पश्यन्नपि ।
तच्छून्ये पुनरागतास्मि भवने प्राणास्त एव स्थिताः
सख्यः ! पश्यत जीवितप्रणयिनी दम्भादहं रोदिमि ॥३१९॥

श्रीरुद्रस्य ॥

अनुष्टुभ् ।

गतो यामो गतौ यामौ गता यामा गतं दिनम् ।
हा हन्त किं करिष्यामि न पश्यामि हरेर्मुखम् ॥३२०॥

श्रीशङ्करस्य ॥

श्रीराधा का विलाप—

श्रीकृष्णचन्द्र के मथुरा चले जाने के बाद प्रोषितभर्तृका के समान विलाप करती हुई श्रीराधा सखियों से बोली—हे सखियो ! देखो मेरी कठोरता "मैं कल अवश्य मथुरा जाऊँगा" ऐसे कहकर जाने के लिये उद्यत प्राणप्यारे के वचन मैंने निर्भय होकर विश्वासपूर्वक सुने, और दूर जाते हुए भी बारंबार लौटकर मेरी ओर देखते हुए जा रहे थे, तथापि मैंने उनकी उपेक्षा कर दी । एवं कृष्ण से शून्य इस भवन में मैं जीती जागती फिर लौट आई हूँ । इतने पर भी मेरे प्राण यों के यों शरीर में विराजमान हैं, अर्थात् इनको तो अपने प्रिय के पीछे पीछे ही प्रस्थान कर देना उचित था, परन्तु जीने के लोभी ये हतभाग्य विरह-कष्ट सहने के लिये शरीर में ममता जमाये हुये टस से मस नहीं होते हैं । अरी सखियो ! देखो प्राणों से प्यार करने वाली मैं तो केवल दम्भ से

वियोगिनी ।

यमुनापुलिने समुत्क्षिपन् नटवेशः कुसुमस्य कन्दुकम् ।
न पुनः सखि ! लोकयिष्यते कपटाभीरकिशोरचन्दमाः ॥३२१॥

श्रीषष्ठीदासस्य ।

अनुष्टुभ् ।

याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि ! योषितः ।
अस्माकं तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी ॥३२२॥

श्रीधन्यस्य ।

रुदन कर रही हूँ, अर्थात् यदि प्राणप्यारे में मेरी सच्ची प्रीति हो तो मैं तत्क्षण ही मर जाती ॥३१९॥

एक पहर व्यतीत हो गया, दोपहर भी व्यतीत हो गये, तीन पहर भी बीत गये, हाय ! देखो सखियो ! यह तो सारा दिन ही रोते हुए व्यतीत हो गया । बड़े खेद की बात है, अब मैं क्या करूँ ? श्रीहरि के मुखारविन्द को नहीं देख पारही हूँ ॥३२०॥

और जो नटवर वेश बनाकर यमुना पुलिन में पुष्पों की बनी हुई गेंद को उछालता हुआ खेला करता था, हे सखि ! वही छलिया नन्दकिशोर-चन्द्रमा उसी प्रकार खेलता हुआ क्या फिर भी मेरे दृष्टिगोचर होगा या नहीं ? ॥३२१॥

हे सखि ! वे स्त्रियाँ धन्य हैं, जो सुपने में नित्य अपने प्राणप्यारे का दर्शन करती रहती हैं, और हमारी तो यह स्थिति है कि प्यारे कृष्ण के मथुरा चले जाने के दिन से वैरिणी निद्रा भी चली गई । अतः मुझे तो स्वप्न में भी दर्शन नहीं होता है, कैसे धैर्य धारण करूँ ? ॥३२२॥

वसन्ततिलकम् ।

सोऽयं वसन्तसमयो विपिनं तदेतत्
सोऽयं निकुंजविटपी निखिलं तदास्ते ।
हा हन्त किं तु नवनीरदकोमलाङ्गो
नालोकि पुष्पधनुषः प्रथमावतारः ।।३२३।।

श्रीसञ्जयकविशेखरस्य ।

अनुष्टुभ् ।

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे ।।३२४।।

श्रीश्रीभगवतः ।

हरिणी ।

दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा न तु भिद्यते
वहति विकलः कायो मूर्च्छां न मुञ्चति चेतनाम् ।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम् ।।३२५।।

श्रीभवभूतेः ।

और हे सखि ! यह वही वसन्त ऋतु का सुहावना समय है, यह वही वृन्दावन है, और लताओं से आच्छन्न ये वही वृक्ष श्रेणी है, ये सब वस्तुयें तो हैं, किन्तु हाय ! कष्ट की बात तो यह है कि नवनीरद कोमल-मूर्ति कन्दर्प के प्रथमावतार, अर्थात् अप्राकृत नवीन कामस्वरूप श्रीकृष्ण मेरे दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं । तात्पर्य—उनके बिना ये सब साज फीके से प्रतीत हो रहे हैं ।।३२३।।

हे सखि ! गोविन्द के विरह से मेरा निमेषमात्र काल भी युग के समान प्रतीत होता है, मेरी आँखों ने वर्षा ऋतु का रूप धारण कर लिया है, और यह समस्त जगत् मुझे शून्य सा प्रतीत होता है ।।३२४।।

हरिणी ।

भ्रमय जलदानम्भोगर्भान् प्रमोदय चातकान्
कलय शिखिनः केकोत्कण्ठान् कठोरय केतकान् ।
विरहिणि जने मूर्च्छां लब्ध्वा विनोदयति व्यथा-
मकरुण ! पुनः संज्ञाव्याधिं विधाय किमीहसे ? ॥३२६॥

श्रीभवभूतेः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

दृष्टं केतकिधूलिधूसरमिदं व्योम क्रमाद्वीक्षिताः
कच्छान्ताश्च शिलीन्ध्रकन्दलभृतः सोढाः कदम्बानिलाः ।
सख्यः ! संवृणुताश्रु मुञ्चत भयं कस्मान्मुधैवाकुला
एतानप्यधुनास्मि वज्रघटिता नूनं सहिष्ये घनान् ॥३२७॥

श्रीरुद्रस्य ।

श्रीगोविन्द के विरह में गाढ़ उद्वेग धारण करने वाला मेरा हृदय विदीर्ण सा तो हो रहा है, परन्तु दो भागों में विभक्त नहीं हो रहा है, अर्थात् यदि दो टूक हो जाता तो मैं विरह से मुक्त हो सुखी हो जाती । विरहविकल शरीर मूर्च्छा को तो धारण किये रहता है, किन्तु चेतना को नहीं त्यागता है । आन्तरिक दाह शरीर को तो जलाये जा रहा है, परन्तु भस्मसात् नहीं करता है, एवं मर्मच्छेदी विधाता मुझ पर प्रहार तो करता है, किन्तु मेरा जीवन छेदन नहीं करता ॥३२५॥

हे विधे ! जलपूर्ण बादलों को भले ही इधर से उधर घुमाओ, चातकों को आनन्दित करो, उत्कण्ठित मयूरों को केका शब्द उच्चारण करने वाले बना दो, एवं केतकी के पुष्पों को भले ही कठोर बना दो, परन्तु हे निर्दय विधाता ! विरहीजन जब मूर्च्छित होकर विरहव्यथा को कुछ दूर करता है, अर्थात् मूर्च्छावस्था में जब विरहदशा को भूल

वसन्ततिलकम् ।

सेयं नदी कुमुदबन्धुकरास्त एव
तद्‌यामुनं तटमिदं विपिनं तदेतत् ।
ते मल्लिकासुरभयो मरुतस्त्वमेव
हा प्राणवल्लभ ! सुदुर्लभतां गतोऽसि ॥३२८॥ श्रीहरिभट्टस्य ।

वियोगिनी ।

यदुनाथ ! भवन्तमागतं कथयिष्यन्ति कदा मदालयः ।
युगपत् परितः प्रधाविताः विकसद्भिर्वदनेन्दुमण्डलैः ॥३२९॥
श्रीतैरभुक्तकवेः ।

जाता है, तब उसको चेतनारूपी व्याधि देकर क्या चेष्टा करते हो, अर्थात् दुःखित को और क्यों दुःख देना चाहते हो ? ।।३२६।।

और मैंने केतकी के पुष्पों की धूली से धूसरवर्ण वाले इस आकाश का भी अवलोकन कर लिया, मत्स्य विशेषों के कोलाहल से आकुल सारे यमुना पुलिन भी देख लिये, कदम्बवन सम्बन्धी वायु को भी खूब सहा। अतएव हे सखियो ! अपने आँसुओं को रोको, भय को त्याग दो, क्यों व्यर्थ ही व्याकुल हो रही हो, मैं कोई मरी थोड़े ही जा रही हूँ, क्यों कि मैं तो वज्र के द्वारा बनी हूँ, अतः इस समय इन वर्षाकालीन मेघों को भी सहूँगी, परन्तु तुम्हारी व्याकुलता मुझ से असह्य है ।।३२७।।

आकाश की ओर दृष्टि लगाकर विलाप करती हुई श्रीराधाजी कहती हैं कि—यह वही यमुना नदी है, ये चन्द्रमा की किरणें भी वे ही हैं, वह यमुना का तट भी वही है, और विपिन भी वही है, एवं मल्लिका की सुगन्ध से युक्त वायुमण्डल भी वही है, परन्तु हा प्राणवल्लभ ! इस समय तो तुम ही दुर्लभ हो गये हो ।।३२८।।

वियोगिनी ।

अयि दीनदयार्द्रनाथ ! हे मथुरानाथ ! कदावलोक्यसे ?
हृदयं त्वदलोककातरं दयित ! भ्राम्यति किं करोम्यहम् ? ॥३३०॥

श्रीमाधवेन्द्रपुरीपादानाम् ।

पुष्पिताग्रा ।

प्रथयति न तथा ममार्तिमुच्चैः सहचरि ! बल्लवचन्द्रविप्रयोगः ।
कटुभिरसुरमण्डलैः परीते दनुजपतेर्नगरे यथास्य वासः ॥३३१॥

श्रीरघुनाथदासस्य ।

वसन्ततिलकम् ।

चूतांकुरे स्फुरति हन्त नवे नवेऽस्मिन्
जीवोऽपि यास्यतितरां तरलस्वभावः ।
किं त्वेकमेव मम दुःखमभूदनल्पं
प्राणेश्वरेण सहितो यदयं न यातः ॥३३२॥ श्रीराज्ञस्य ।

हे यदुनाथ ! मेरी सखियाँ एकसाथ चारों ओर से दौड़ती हुई प्रसन्न अपने मुखेन्दुमण्डल से आप आ गये हैं, इस शुभ समाचार को मेरे से कब कहेंगी ? हा प्रभो ! ऐसा शुभ अवसर कब उपस्थित होगा ? ॥३२९॥

अयि दीनदयार्द्रनाथ ! हे मथुरानाथ ! मैं विरहिणी कब आपका मङ्गलमय दर्शन करूँगी ? हे दयित ! तुम्हारे अदर्शन से कातर यह मेरा हृदय घूमघुमेर खा रहा है, ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँ ? ॥३३०॥

हे सहचरि ! बल्लवचन्द्र श्रीकृष्ण का विरह मेरे लिये वैसी अधिक पीड़ा विस्तारित नहीं कर रहा है, जैसा कि अत्यन्त क्रूर स्वभाव वाले असुर समूह से व्याप्त दनुजपति कंस के नगर में उनका रहना मुझे क्लेशप्रद हो रहा है ॥३३१॥

वसन्ततिलकम् ।

आशैकतन्तुमवलम्ब्य विलम्बमाना
रक्षामि जीवमवधिर्नियतो यदि स्यात् ।
नो चेद्विधिः सकललोकहितैककारी
यत् कालकूटमसृजत् तदिदं किमर्थम् ? ॥३३३॥ श्रीहरेः ।

हरिणी ।

प्रसर शिशिरामोदं कौन्दं समीर ! समीरय
प्रकटय शशिन्नाशाः कामं मनोज ! समुल्लस ।
अवधिदिवसः पूर्णः सख्यो विमुञ्चत तत्कथां
हृदयमधुना किञ्चित् कर्तुं ममान्यदिहेच्छति ॥३३४॥
श्रीरुद्रस्य ।

हाय ! इस वसन्त के प्रारम्भ में नवीन नवीन आम्रपल्लव निकल रहे हैं, अतः चंचल स्वभाव वाला मेरा जीव भी अवश्य देह को त्याग कर चला जायगा । किन्तु मेरे हृदय में तो एक यही भारी दुःख उपस्थित हो गया है कि यदि इसको जाना ही था तो, यह प्राणेश्वर के साथ ही क्यों नहीं चला गया ? अर्थात् उस समय जाने में ही इसकी विशेष शोभा थी ॥३३२॥

और यदि हमारे प्राणप्यारे के आगमन की अवधि नियत हो जाती तो उस अवधिरूप एक आशातन्तु का सहारा लेकर मैं बहुत दिन तक अपने जीवन की रक्षा कर लेती । परन्तु आने की अवधि तो निश्चित है नहीं, अतः अब यदि विशेष विलम्ब दीखा तो, सकल लोक के एकमात्र हितकारी विधाताने अपनी सृष्टि में कालकूट (जहर) की सृष्टि किस-लिये की है ? अर्थात् हम जैसे विरहयुक्तों के दुःख को दूर करने के लिये

वसन्ततिलकम्

नायाति चेद् यदुपतिः सखि ! नैतु कामं
प्राणास्तदीयविरहाद् यदि यान्ति यान्तु !
एकः परं हृदि महान् मम वज्रपातो
भूयो यदिन्दुवदनं न विलोकितं तत् ।।३३५।। श्रीहरिभट्टस्य ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम् ।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गण-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ।।३३६।।
श्रीषाण्मासिकस्य ।

ही तो उसकी रचना हुई है । तात्पर्य—प्राणेश्वर के आने में यदि अब विशेष विलम्ब दीखा तो जहर खाकर मर जाऊँगी ।।३३३।।

हे शिशिर ! तुम कुन्द के पुष्पों की सुगन्धी का यथेष्ट विस्तार करो । हे वायो ! तुम शीतल, मन्द, सुगन्ध होकर भले ही चलो । हे चन्द्र ! तुम सब दिशाओं को प्रकाशित कर दो । हे कन्दर्प ! तुम भी यथेष्ट प्रसन्न हो जाओ । अरी सखियो ! देखो आज प्यारे के आने की अवधि का दिवस भी पूरा हो गया, अतः तुम उस निर्दयी की चर्चा छोड़ दो । इस समय मेरा हृदय तो कुछ और ही करना चाहता है, अर्थात् इस शरीर में अब रहना नहीं चाहता ।।३३४।।

अरी सखि ! यदुपति यदि नहीं आते हैं तो उनकी इच्छा । मत आओ, और मेरे प्राण भी यदि उनके विरह से जाना चाहते हैं तो भले ही चले जाओ । परन्तु मेरे हृदय पर तो केवल एक यही सब से बड़ा

वंशस्थबिलम् ।

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥३३७॥ श्रीश्रीभगवतः ।

अथ मथुरायां यशोदास्मृत्या श्रीकृष्णवाक्यम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

ताम्बूलं स्वमुखार्धचर्वितमितः को मे मुखे निक्षिपे-
दुन्मार्गप्रसृतं च चाटुवचनैः को मां वशे स्थापयेत् ?
एह्येहीति विदूरसारितभुजः स्वाङ्के निधायाधुना
केलिस्रस्तशिखण्डकं मम पुनर्व्याधूय बध्नातु कः ? ॥३३८॥

श्रीतैरभुक्तकवेः ।

भारी वज्रपात हुआ है कि दुवारा मन्द मुस्क्यानयुक्त उस मुखचन्द्र का मैंने दर्शन नहीं किया ॥३३५॥

मेरा शरीर भले ही पञ्चत्व (मृत्यु) को प्राप्त हो जाय और पाँचों महाभूत भी भले ही अपने अपने अंशों में प्रविष्ट हो जायँ । इतने पर भी मैं तो मस्तक द्वारा प्रणाम करके विधाता से यही वर माँगती हूँ कि—श्रीकृष्ण के स्नान करने वाली बावड़ियों में मेरे देह का जलतत्त्व मिल जाय, उनके दर्पण में मेरे देह की ज्योति, अर्थात् अग्नितत्त्व मिल जाय, उनके आँगन के आकाश में मेरे देह का आकाश संयुक्त हो जाय, उनके चलने के मार्ग में मेरे शरीर का पृथ्वीतत्त्व बिछ जाय, एवं उनके तालवृन्त (बीजना) में मेरे शरीर का वायुतत्त्व प्रविष्ट हो जाय॥३३६॥

वह लम्पट अपनी पादसेवा में आसक्त मुझ दासी को प्रगाढ़ आलिङ्गन से भींचे, किंवा अपने दर्शन न देकर मुझे मर्माहत करते हुए

अथ श्रीराधास्मृत्या हरेर्वाक्यम् ।

मालिनी ।

यदि निभृतमरण्यं प्रान्तरं वाप्यपान्थं
कथमपि चिरकालं पुण्यपाकेन लप्स्ये ।
अविरलगलदस्रै र्घर्घरध्वानमिश्रैः
शशिमुखि ! तव शोकैः प्लावयिष्ये जगन्ति ॥३३६॥

श्रीतैरभुक्तकवेः ।

पीड़ा भी पहुँचाय, या अपनी जो अभिरुचि हो सो करे, परन्तु वही मेरा प्राणनाथ है । उनके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है ॥३३७॥

मथुरा में यशोदाजी की स्मृति से श्रीकृष्ण वाक्य—

एकान्त में बैठे हुए श्रीकृष्ण को जब वात्सल्यमयीमाता श्रीयशोदाजी का स्मरण आगया तब बोले—हाय ! माँ यशोदा के बिना इस नगरी में ऐसा कौन वात्सल्यरस प्रेमी है कि जो अपने मुख से अर्धचर्वित ताम्बूल को मेरे मुख में धर दे । बाल्यावस्था में खेल खेल में जब मैं विशेष ऊधम मचाने के कारण विपथगामी सा हो जाता था तो उस समय माँ यशोदा बड़े प्यार से चाटु वचनों से दुलारभरी बातों से अपने वश में रखती थीं । हाय ! उसी व्यवहार से अब मुझे कौन अपने वश में स्थापित करे ? और हे वत्स ! हे लाल ! आओ आओ । इस प्रकार कहकर अपनी भुजाओं को दूर से ही फैलाकर गोदी में बैठाकर खेल खिलवाड़ में अस्तव्यस्त हुए मयूरमुकुट को शिथिल करके पुनः माँ यशोदा की भाँति स्नेहपूर्वक अब कौन बांधे ? अर्थात् माँ यशोदा का सा प्यार अब मुझ पर कौन करेगा ? इस मधुपुरी में तो ऐसा कोई दिखाई देता नहीं । इस प्रकार माँ यशोदा के प्यार की याद कर यशोदानन्दन के नेत्रों से अश्रु की धार बँध जाती है । यहाँ पर भगवान् ने "ये यथा

उद्धवं प्रति हरेर्वाक्यम् ।

गीति आर्या ।

विषयेषु तावदबलास्तास्वपि गोप्यः स्वभावमृदुवाचः ।
मध्ये तासामपि सा तस्यामपि साचिवीक्षितं किमपि ॥३४०॥

कस्यचित् ।

मां प्रपद्यन्ते ताँस्तथैव भजाम्यहम्" ये स्वमुख की वाणी साङ्गोपाङ्ग कर दिखाई। ऐसे स्नेही श्रीहरि को भी त्यागकर जीव प्राकृत स्नेह के प्रालेयबिन्दु से प्यास बुझाने के लिये मारा-मारा भटकता फिरता है ॥३३८॥

श्रीराधा की स्मृति से श्रीकृष्ण वाक्य—

हे शशिमुखि राधे ! यदि निर्जन वन अथवा पथिकजन रहित बहुत दूर तक शून्यतामय मार्ग किसी पुण्य परिपाक से चिरकाल पर्यन्त मुझे प्राप्त हो जायगा तो तेरे शोक से उत्पन्न घर्घर शब्द मिश्रित, धारा-प्रवाहरूप से बहते हुए अश्रुओं से जगत् को आप्लावित कर दूँगा ॥३३६॥

उद्धव के प्रति श्रीहरि वाक्य—

व्रजवासियों की याद करते हुए श्रीकृष्ण बोले—हे प्रिय मित्र उद्धव ! व्रजवासी जनों में तो वे व्रज की अबलायें श्रेष्ठ हैं, और उनमें से भी कोमलवाणी वाली गोपियाँ श्रेष्ठ हैं। उनकी वाणी मुझे बड़ी मीठी लगती थी। उन सब के मध्य में भी श्रीरासेश्वरी श्रेष्ठ हैं। उनमें भी तिरछी नजर से देखना एक विशिष्ट गुण है, जिसकी मुझे सर्वदा याद आती रहती है। मेदिनीकोश में विषय शब्द को जनपद वाची कहा है, और वह जनपद शब्द जन वाची भी है, अतः यहाँ जन वाची मानकर अर्थ किया है, प्रकरण भी अर्थ का परिचायक होता है ॥३४०॥

उद्धवेन राधायां हरेः सन्देशः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्धते ।
पीयूषप्रतिवेदिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः कथं नु करवै वाङ्निष्ठतालाघवम् ? ॥३४१॥

केषांचित् ।

उद्धव के द्वारा श्रीराधा के प्रति श्रीहरि का सन्देश—

हे प्रियतमे ! जिस हम तुम दोनों के प्रेम ने अपने आविर्भाव के दिन थोड़े से भी कारण की अपेक्षा नहीं की थी, अर्थात् किसी हेतु से जो प्रेम उत्पन्न होता है वह उस हेतु के न रहने पर नष्ट भी हो जाता है, अतः हमारा तुम्हारा प्रेम तो निष्कारण निरुपाधिक है, और जो परस्पर की अपराध परम्परा से भी कभी क्षीण नहीं हो सकता, सच्चे प्रेम का लक्षण भी यही है—"सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे", अर्थात् प्रेम के टूटने के कारण उपस्थित होने पर भी जो कभी भी न टूटे, एक रस रहे, वही सच्चा प्रेम है, और जो अनुनय विनय से नहीं बढ़ता, एवं त्रिलोकी के दुःख को दूर करने वाले अमृत से भी जो विशेष आस्वादप्रद है, तो तुम्हीं बताओ, हे रासेश्वरी ! इस समय उसी हमारे तुम्हारे गुरुतर प्रेम की वाक्य द्वारा लघुता किस प्रकार स्थापित कर दूँ ? अर्थात् मेरा तुममें इतना प्रेम है, और तुम्हारा मुझमें इतना प्रेम है, इस प्रकार वाणी से परिमाण करके, परिमाण रहित प्रेम को छोटा कैसे बना दूँ ? तात्पर्य—हमारा तुम्हारा प्रेम तो इयत्ता रहित है । वह वाणी का विषय नहीं है ॥३४१॥

मन्दाक्रान्ता ।

आस्तां तावद् वचनरचनाभाजनत्वं विदूरे
दूरे चास्तां तव तनुपरीरम्भसम्भावनापि ।
भूयो भूयः प्रणतिभिरिदं किं तु याचे विधेया
स्मारं स्मारं स्वजनगणने कापि रेखा ममापि ॥३४२॥

श्रीकेशवभट्टाचार्यस्य ।

अथ वृन्दावनं गच्छत उद्धवस्य वाक्यम् ।

शिखरिणी ।

इयं सा कालिन्दी कुवलयदलस्निग्धमधुरा
मदान्धव्याकूजत्तरल-जलरंकुप्रणयिनी ।
पुरा यस्यास्तीरे सरभस-सतृष्णं मुरभिदो
गताः प्रायो गोपीनिधुवनविनोदेन दिवसाः ॥३४३॥

श्रीदशरथस्य ।

और हे राधे ! आपके साथ मधुर वार्तालाप करने की योग्य पात्रता को तो दूर रहने दो। एवं आपसे भुजभर के मिलने की सम्भावना को भी दूर रहने दो। तथापि मैं तो बारंबार नमस्कार द्वारा आपसे यही भिक्षा चाहता हूँ कि जिस समय आप अपने स्वजनों की गिनती करें, उस समय बारंबार याद करके उनके मध्य में मेरे नाम की भी एक रेखा खैंच देना, अर्थात् अपने परिकर में मेरी भी गिनती कर लेना। भावार्थ यह है कि ऐसे स्नेही प्रणतजन रक्षक हरि को त्यागकर भूलकर भी किसी अन्य की शरण में नहीं जाना चाहिये ।।३४२।।

श्रीवृन्दावन जाते समय श्रीउद्धवजी का वाक्य—

पहले जिसके तीर पर श्रीकृष्णचन्द्र के हर्ष और तृष्णापूर्वक

शिखरिणी ।

पुरेयं कालिन्दी व्रजजनवधूनां स्तनतटी-
तनूरागैर्भिन्ना शबलसलिलाभूदनुदिनम् ।
अहो तासां नित्यं रुदितगलितैः कज्जलजलै-
रिदानीं यातेऽस्मिन् द्विगुणमलिनाभून्मुररिपौ ॥३४४॥

श्रीसर्वानन्दस्य ।

शिखरिणी ।

इदं तत् कालिन्दीपुलिनमिह कंसासुरभिदो
यशः शृण्वद्वक्त्रस्खलितकवलं गोकुलमभूत् ।
भ्रमद्वेणुक्वाणश्रवणमसृणोत्तारमधुर-
स्वराभिर्गोपीभिर्दिशि दिशि समुद्घूर्णमनिशम् ॥३४५॥

श्रीमोटकस्य ।

गोपियों के साथ निधुवन क्रीड़ा विनोद से ही प्रायः दिवस व्यतीत होते थे, कमलदल श्रेणीयुक्त स्निग्ध एवं मधुर गुण विशिष्ट यह वही श्रीयमुनाजी हैं । आज भी जिसमें स्नान करने से उत्पन्न हर्ष से अन्धे से होकर उच्चस्वर से मधुर बोलियाँ बोलते हुए हंस, कारण्डव, दात्यूह प्रभृति चंचल जल जन्तु अपना स्नेहाधिक्य प्रदर्शित कर रहे हैं ।।३४३।।

पहले यह कालिन्दी गोपियों के स्तनतट के एवं शरीर के मृगमद द्वारा मिश्रित जल वाली होकर प्रतिदिन चितकबरे जल वाली बनी रहती थी । अहह ! कैसे खेद की बात है कि श्रीमुरारी के चले जाते ही उन्हीं गोपियों के नित्य रोने से बहते हुए कज्जल जल से इस समय दुगुनी मलिन हो गई है ।।३४४।।

इन्द्रवज्रा ।

ताभ्यो नमो बल्लववल्लभाभ्यो यासां गुणैस्तैरभिचिन्त्यमानैः ।
वक्षःस्थले निःश्वसितैः कदुष्णैर्लक्ष्मीपतेर्म्लायति वैजयन्ती ॥३४६॥

कस्यचित् ।

व्रजदेवीकुलं प्रत्युद्धववाक्यम् ।

उपजातिः ।

वियोगिनीनामपि पद्धतिं वो न योगिनो गन्तुमपि क्षमन्ते ।
यद्ध्येयरूपस्य परस्य पुंसो यूयं गता ध्येयपदं दुरापम् ॥३४७॥

कस्यचित् ।

यह वही यमुना पुलिन है, जहाँ पर सुबल श्रीदामादि सखाओं के मुख से श्रीकृष्ण का गुणानुवाद श्रवण करते करते, सब गौओं के मुख से घास का ग्रास भी नीचे गिर जाता था। हाय ! व्रज के तो पशु भी बड़े कृष्ण के महान् स्नेही हैं, अतः धन्य हैं। और श्रीकृष्ण के वेणु बजाने पर घूमते हुए वेणुनाद के श्रवण से जिनके नेत्रों के तारे खिल गये है, ऐसी मधुरस्वर वाली गोपियाँ के द्वारा जहाँ पर चारों दिशाओं में निरन्तर भ्रमण हुआ है, अर्थात् कौन सी दिशा से यह वेणु ध्वनि आ रही है, इस प्रकार कहती हुई गोपियाँ शब्द का अनुसन्धान करती हुई चारों ओर इस पुलिन पर बावरी सी होकर घूमती रही हैं। यह वही मनोहर पुलिन न जाने कौन से सौभाग्य से हमको भी देखने को मिल गया ? ॥३४५॥

मैं उन गोपियों को बारंबार नमस्कार करता हूँ कि जिनके गुणों के स्मरण से किंचित् उष्ण श्वासों से लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल में विराजमान वैजयन्ती माला भी मलिन हो जाती है अर्थात् कुम्हला जाती है ॥३४६॥

उद्धवे दृष्टे सखीं प्रति श्रीराधावाक्यम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

कल्याणं कथयामि किं सहचरि ! स्वैरेषु शश्वत् पुरा
यस्या नाम समीरितं मुररिपोः प्राणेश्वरीति त्वया ।
साहं प्रेमभिदाभयात् प्रियतमं दृष्ट्वापि दूतं प्रभोः
सन्दिष्टास्मि न वेति संशयवती पृच्छामि नो किञ्चन ॥३४८॥

श्रीरामचन्द्रदासस्य ।

व्रज की गोपियों के प्रति उद्धव वाक्य—

धीरे धीरे यमुनापुलिन की कमनीय शोभा को निहारते हुए उद्धवजी गोपियों के समीप जाकर बोले—हे कृष्ण विरहिणी गोपियो ! तुम सब वियोगिनियों की पद्धति को प्राप्त करने के लिये योगीजन भी समर्थ नहीं हैं, अर्थात् तुम्हारे मार्ग पर जब चलना ही कठिन है तब तुम्हारे भाव को प्राप्त करना तो बहुत ही दूर है । कारण जो परमपुरुष श्रीकृष्ण सब के ध्यान करने योग्य है, उसी परमपुरुष के दुष्प्राप्य ध्येय पद को तुम सब अनायास प्राप्त हो गई हो, अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्डगत भक्तगण जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं, वही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक श्रीकृष्ण रह रहकर तुम्हारा निरन्तर ध्यान करते रहते हैं, अतः तुम्हारे सौभाग्य वैभव का कौन वर्णन कर सकता है ? ॥३४७॥

उद्धव के दीखने पर सखी के प्रति राधा वाक्य—

हे सहचरि ललिते ! कल्याण की विशेष कथा क्या कहूँ ? देखो, श्रीकृष्ण के मथुरा जाने से पहले तू साधारण बातचीत में भी "तुम श्रीकृष्ण की प्राणेश्वरी हो" इस प्रकार कहकर निरन्तर जिसके नाम का उच्चारण किया करती थी, वही मैं राधा प्रेम टूटने के भय से अपने स्वामी

अथ श्रीराधां प्रत्युद्धववाक्यम् ।

वियोगिनी ।

मलिनं नयनांजनाम्बुभिर्मुखचन्द्रं करभोरु ! मा कुरु ।
करुणावरुणालयो हरिस्त्वयि भूयः करुणां विधास्यति ॥३४९॥

श्रीषष्ठीदासस्य ।

अथ उद्धवं प्रति राधासखीवाक्यम् ।

वसन्ततिलकम् ।

हस्तोदरे विनिहितैककपोलपाले-
रश्रान्तलोचनजलस्नपिताननायाः ।
प्रस्थानमङ्गलदिनावधि माधवस्य
निद्रालवोऽपि कुत एव सरोरुहाक्ष्याः ? ॥३५०॥

श्रीहरिहरस्य ।

के प्रियतम दूत को देखकर भी "मेरे लिये कुछ सन्देश भेजा है कि नहीं" इस संशय से युक्त होकर दूत से कुछ भी नहीं पूछ रही हूँ, अर्थात् न पूछने में तो सन्देहग्रस्त होने से जीवन की आशा है, और पूछने पर यदि कृष्ण की ओर से कोई निराशामय उत्तर मिल गया तो, तत्काल मेरा जीवन समाप्त ही समझो। यदि कहो कि जीवन से तुमको इतना प्यार क्यों है ? तहाँ मैं कहती हूँ कि जीवन से प्यार नहीं, प्यारे से ही प्यार है। क्यों कि मेरे विरह में यदि प्राणधन को किंचित् भी कष्ट हुआ तो वह मुझे लोकान्तर में भी असह्य होगा ॥३४८॥

राधा के प्रति उद्धव वाक्य—

इस प्रकार दुःखित होती हुई राधा के प्रति उद्धवजी बोले—हे प्रीति-मति राधिके ! हे करभोरु ! नेत्रों के कज्जल मिश्रित जल से अपने

वसन्ततिलकम्

निश्चन्दनानि वणिजामपि मन्दिराणि
निष्पल्लवानि च दिगन्तरकाननानि ।
निष्पङ्कजान्यपि सरित्सरसीकुलानि
जातानि तद्विरहवेदनया न शान्तम् ॥३५१॥ तस्यैव ।

मुखचन्द्र को मलिन मत करो। क्योंकि करुणावरुणालय श्रीहरि फिर भी तुम्हारे ऊपर शीघ्र ही कृपा करेंगे ॥३४९॥

उद्धव के प्रति राधा सखी वाक्य—

हे श्रीउद्धवजी ! हमारी सखी श्रीराधिकाजी की दयनीय दशाविशेष आप से क्या सुनाऊँ ? देखो, श्रीकृष्णचन्द्रने जिस दिन मथुरा प्रस्थान किया था, उसी मङ्गलमय दिन की अवधि से, कमलनयनी श्रीराधिकाजी अपने दाहिने हाथ की हथेली पर कपोल धर कर, नयन जल से निरन्तर अपने मुखकमल का स्नान कराती रहती हैं, अतः आज तक इनको निमेष मात्र भी निद्रा नहीं आई है ॥३५०॥

सब वैश्य जनों के घर चन्दन रहित हो गये, दिग्दिगन्तवर्ती सब वन भी कोमल पल्लव रहित हो गये, एवं सरित सरोवर आदि सभी जलाशय कमल रहित हो गये हैं, तथापि श्रीकृष्ण के विरह से जायमान श्रीराधा की वेदना किंचिद् भी शान्त नहीं हुई है, अर्थात् विरह शान्त्यर्थ पूर्वोक्त उपकरणों के उपस्थित करते करते, चन्दनादि उपकरणों के स्थान ही रिक्त हो गये हैं। अतः हमें तो अब श्रीकृष्ण के दर्शन के बिना और कोई भी उपचार लाभप्रद नहीं दीखता है। इसलिये आप उन्हें ही शीघ्र लिवा लाने की कृपा करें ॥३५१॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

प्राणस्त्वं जगतां हरेरपि पुरा सङ्केतवेणुस्वना-
नादाय व्रजसुभ्रुवामिह भवान् मार्गोपदेशे गुरुः ।
हं हो माथुरनिष्कुटानिल ! सखे ! सम्प्रत्यपि श्रीपते-
रङ्गस्पर्शपवित्रशीतलतनुस्त्राता त्वमेकोऽसि नः ॥३५२॥

श्रीरामचन्द्रदासस्य ।

अथ राधासख्या एव कृष्णे सन्देशः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

त्वद्देशागत-मारुतेन मृदुना संजातरोमाञ्चया
त्वद्रूपाङ्कित-चारुचित्रफलके सन्तर्पयन्त्या दृशम् ।
त्वन्नामामृतसिक्तकर्णपुटया त्वन्मार्गवातायने
तन्व्या पञ्चमगीतगर्भितगिरा रात्रिन्दिवं स्थीयते ॥३५३॥

श्रीत्रिविक्रमस्य ।

वायु को लक्ष्य करके सखी बोली—हे वायो ! तुम जगत् के प्राण हो। पहले भी तुम श्रीकृष्ण के सांकेतिक वेणु ध्वनियों को लेकर व्रज-गोपियों के लिये हित का मार्ग बताने में गुरु तुल्य कार्य करते रहे हो। हे मथुरा के उपवनों में बहने वाले सखे वायो ! श्रीकृष्णचन्द्र के अङ्ग स्पर्श से पवित्र एवं शीतल शरीर वाले तुम एक ही इस समय भी हम सब के रक्षक हो। अतः ऐसी कृपा हम सब पर सदैव बनाये रखना ॥३५२॥

श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधा की सखी का सन्देश—

श्रीराधा की दशमी दशा की सूचना के लिये कोई सन्देश सखीने श्रीकृष्ण के पास भेजा था, उस सन्देश को बारह श्लोकों में कहते हैं।

मन्दाक्रान्ता ।

अङ्गेऽनङ्गज्वरहुतवहश्चक्षुषि ध्यानमुद्रा
कण्ठे जीवः करकिशलये दीर्घशायी कपोलः ।
अंसे वेणी कुचपरिसरे चन्दनं वाचि मौनं
तस्याः सर्वं स्थितमिति न च त्वां विना क्वापि चेतः ॥३५४॥

श्रीक्षेमेन्द्रस्य ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

दृष्टे चन्द्रमसि प्रलुप्ततमसि व्योमाङ्गणस्थेयसि
स्फूर्जन्निर्मलतेजसि त्वयि गते दूरं निजप्रेयसि ।
श्वासः कैरवकोरकीयति मुखं तस्याः सरोजीयति
क्षीरोदीयति मन्मथो दृगपि च द्राक् चन्द्रकान्तीयति ॥३५५॥

श्रीभीमभट्टस्य ।

सखी बोली—हे कृष्ण ! तुम्हारे देश की ओर से आई हुई कोमल वायु द्वारा कृशाङ्गी श्रीराधा रोमांचित हो जाती है, और तुम्हारे रूप से चित्रित मनोहर चित्रपट पर नेत्र लगाकर अपने नेत्रों को परितृप्त करती रहती है, एवं आपके नामामृत से ही दोनों कर्णपुटों को सींचती रहती है, और पंचम स्वर के गायन से भरी हुई वाणी से अकेली ही गुनगुनाती हुई आपके आने के मार्ग की ओर वाले वातायन में, अर्थात् जंगले में रात दिन बैठी रहती है । उसको खाने पीने की भी सुधबुध नहीं है ॥

और हे कृष्ण ! उसके अङ्ग में अनङ्गज्वररूप अग्नि दहकती रहती है, नेत्रों में ध्यान मुद्रा लगी रहती है, कण्ठ में जीव रहता है, अर्थात् आपके विरह में उसके प्राण घटघटी में आ रहे हैं, करपल्लव पर चिरकाल तक कपोल सोता रहता है, वेणी कन्धे पर अस्तव्यस्त पड़ी

वसन्ततिलकम् ।

अस्याः सदा विरहवह्निशिखाकलाप-
तप्ते स्थितोऽसि हृदये त्वमिह प्रियायाः ।
प्रालेयशीकरसमे हृदि ते मुरारे !
राधा क्षणं वसति नैव कदापि धूर्त ! ॥३५६॥

श्रीशङ्करस्य ।

रहती है, वक्षःस्थल पर प्रतिक्षण चन्दन लगा रहता है, एवं उसकी वाणी में मौन विराजता है, अर्थात् पूछने पर भी कुछ उत्तर नहीं देती हैं। तात्पर्य—उसके अङ्ग में ये सब इस प्रकार स्थित हैं, तथापि उसका चित्त तुम्हारे विना और कहीं भी स्थित नहीं है ॥३५४॥

और निज प्राणप्यारे तुम्हारे दूर चले जाने पर तो राधा की यह दशा हो जाती हैं कि अन्धकार दूर करने वाले, व्योमाङ्गण में विहार करने वाले, स्फूर्तिशील निर्मल तेज विशिष्ट चन्द्रमा के दीखते ही, उसका श्वास कैरव (रात्रि कमल) का सा आचरण करने लग जाता है, अर्थात् चन्द्रमा को देखते ही कुमुद जैसे खिल उठते हैं, उसी प्रकार आपके विरह में राधा के श्वासों का वेग बढ़ जाता है, और उसका मुख कमल का सा आचरण करने लगता है, अर्थात् चन्द्र के देखते ही कमल जैसे संकुचित हो जाता है, उसी प्रकार राधा का मुखकमल भी सिकुड़ जाता है, और मन्मथ, अर्थात् आप विषयक उसका प्रेम क्षीरसमुद्र का सा व्यवहार करने लग जाता है, अर्थात् चन्द्रमा को देखकर क्षीरसमुद्र में जैसे बाढ़ आ जाती है, उसी प्रकार श्रीराधा के प्रेम में भी बाढ़ आ जाती है, और उसके दोनों नेत्र चन्द्रकान्तमणि का सा कार्य करने लग जाते हैं, अर्थात् चन्द्रदर्शन से चन्द्रकान्तमणि जैसे पिघलने लग जाती है, उसी प्रकार हमारी सखी राधा के दोनों नेत्रों से पनाले से बह निकलते हैं ॥३५५॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

अस्यास्तापमहं मुकुन्द ! कथयाम्येणीदृशस्ते कथं
पद्मिन्याः सरसं दलं विनिहितं यस्याः सतापें हृदि ?
आदौ शुष्यति संकुचत्यनु ततश्चूर्णत्वमापद्यते
पश्चान्मुर्मुरतां दधद्दहति च श्वासावधूतः शिखी ॥३५७॥

श्रीशान्तिकरस्य।

शार्दूलविक्रीडितम्।

उद्धूयेत तनूलतेति नलिनीपत्रेण नोद्वीज्यते
स्फोटः स्यादिति नाङ्गकं मलयजक्षोदाम्भसा सिच्यते।
स्यादस्यातिभरात् पराभव इति प्रायो न वा पल्लवा-
रोपो वक्षसि तत् कथं कृशतनोराधिः समाधीयताम् ? ॥३५८

श्रीआनन्दस्य।

हे मुरारे ! तुम तो अपनी प्रियतमा इस राधा के विरहवह्नि शिखा समूह से संतप्त हृदय में भी सदैव आसन जमाये रहते हो। किन्तु हे धूर्त ! हिमकण सदृश सुशीतल तुम्हारे हृदय में हमारी सखी राधा क्षण भर कभी भी निवास नहीं कर पाती हैं, अर्थात् यह कहाँ की सुनीति है कि आप तो दूसरे के घर पर पूरा अधिकार जमाये रहना और दूसरे को अपने घर पर क्षण भर खड़े भी न रहने देना। वाह जी वाह ! ॥३५६॥

हे मुकुन्द ! मृगनयनी इस राधिका के सन्ताप को आप से मैं कैसे कहूँ कि देखो। आपके विरह से संतप्त जिसके हृदय पर रक्खा हुआ सरस कमलिनी का दल भी पहले सूख जाता है, पश्चात् संकुचित हो जाता है, तदनन्तर चूर्ण सदृश हो जाता है, उसके बाद मुरमुरता को धारण करने वाले उस कमलिनी के पत्र को श्वासों द्वारा प्रोद्दीप्त विरहाग्नि उसे भस्म कर देता है ॥३५७॥

उपगीति आर्या ।

निवसति यदि तव हृदये सा राधा वज्रघटितेऽस्मिन् ।
तत् खलु कुशलं तस्याः स्मरविशिखैस्ताड्यमानायाः ॥३५९॥

कस्यचित् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

उन्मीलन्ति नखैर्लुनीहि वहति क्षौमाञ्चलेनावृणु
क्रीडाकाननमाविशन्ति वलयक्वाणैः समुत्रासय ।
इत्थं पल्लवदक्षिणानिलकुहूकण्ठीषु साङ्केतिक-
व्याहाराः सुभग ! त्वदीयविरहे राधासखीनां मथः ॥३६०॥

श्रीशम्भोः ।

अतः हे कृष्ण ! कृशाङ्गी राधा की मानसिक व्यथा का हम कैसे समाधान करें ? कारण इसका कृशतर शरीर कहीं कम्पित न हो जाय, इस हेतु से तो हम नलिनीपत्र से बीजन भी नहीं करती हैं । विरहाग्नि से संदग्ध इसके शरीर पर कहीं फफोला न पड़ जाय, इस ध्येय से मलयागिर चन्दन के चूर्ण से यूक्त जल से इसके अंग को भी हम नहीं सींचती हैं, और अधिक भार से इसका शरीर कहीं दबकर पीड़ित न हो जाय, इसीलिये इसके वक्षःस्थल पर पल्लवों का आरोप भी हम नहीं करती हैं । अतः शान्ति के लिये किये गये हमारे सब उपाय व्यर्थ हैं । अब तो आप ही इस दुःसाध्य आधिका समाधान कर सकते हैं ॥३५८॥

हे कृष्ण ! वही राधा वज्र से निर्मित आपके इस हृदय में यदि निवास स्थान प्राप्त कर ले तो पंचशर केशरों से ताड़ित उसका सर्वथा कल्याण हो सकता है ॥३५९॥

और हे सुभग कृष्ण ! तुम्हारे विरह के समय राधा की सखियों की पल्लव, दक्षिणानिल और कोकिल के प्रति परस्पर इस प्रकार की सांकेतिक

शिखरिणी ।

गलत्येका मूर्च्छा भवति पुनरन्या यदनयोः
किमप्यासीन्मध्यं सुभग ! निखिलायामपि निशि ?
लिखन्त्यास्तत्रास्याः कुसुमशरलेखं तव कृते
समाप्ति स्वस्तीति प्रथमपदभागोऽपि न गतः ॥३६१॥

श्रीशचीपतेः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

चित्राय त्वयि चिन्तिते तनुभुवा चक्रे ततज्यं धनु-
र्वर्तिं धर्तुमुपागतेऽङ्गुलियुगे बाणो गुणे योजितः ।
प्रारब्धे तव चित्रकर्मणि धनुर्मुक्तास्त्रभिन्ना भृशं
भित्तिं द्रागवलम्ब्य केशव ! चिरं सा तत्र चित्रायते ॥३६२॥

श्रीबाणस्य ।

उक्ति प्रत्युक्तियाँ होती रहती हैं कि एक सखी बोली—कोमल कोमल पल्लव वृक्षों में अंकुरित हो रहे हैं । दूसरी बोली—उनको शीघ्रता से अपने नखों से छेदन कर दो नहीं तो उनको देखकर राधा की विरह-व्याधि बढ़ जायगी । एक बोली—बहिन ! दक्षिणवायु छाह रहा है । दूसरी बोली—अपने रेशमी अंचल से उसे रोक ले । एक बोली—अरी सखि ! कोयल तो "कूहू कूहू" करती हुई क्रीड़ाकानन में प्रविष्ट हो रही है । दूसरी बोली—तो दारी शीघ्र ही अपनी चूड़ियों के शब्द से उन्हें डरा दे भगा दे, अन्यथा राधा के कानों में उनका मधुर शब्द पड़ते ही व्याधि बढ़ जायगी ॥३६०॥

हे सुन्दरवर ! आपके विरह में राधा की एक मूर्च्छा समाप्त होती है तत्क्षण ही दूसरी मूर्च्छा आ जाती है । इस प्रकार रात्रिभर इन दोनों मूर्च्छाओं का अनिर्वचनीय सन्धिक्रम चलता ही रहता है, और उस समय

शार्दूलविक्रीडितम् ।

त्वामन्तःस्थरभावनापरिणतं मत्वा पुरोऽवस्थितं
यावद्दोर्वलयं करोति रभसादग्रे समालिङ्गितुम् ।
तावत्त्वं निजमेव देहमचिरादालिंग्य रोमाञ्चितां
दृष्ट्वा वृष्टिजलच्छलेन रुदितं मन्ये पयोदैरपि ॥३६३॥कस्यचित् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु कृतं तापः सखीष्वाहितो
दैन्यं न्यस्तमशेषतः परिजने चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता ।
अद्य श्वः किल निर्वृतिं व्रजति सा श्वासैः परं खिद्यते
विस्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया ॥३६४॥

श्रीरुद्रस्य ।

आपके लिये कन्दर्प लेख लिखते हुए इस राधा के "स्वस्ति" इस पद का प्रथम भाग, अर्थात् "स्व" भी समाप्त नहीं होता, अर्थात् मूर्च्छाओं की अधिकता से रातभर में एक अक्षर भी नहीं बन पाता है ॥३६१॥

हे केशव ! श्रीराधा जब आपका चित्र बनाने का विचार करती है, तभी कन्दर्प अपने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा लेता है । उसके बाद जब राधा की चित्र बनाने की कुची धारण करने के लिये दोनों अंगुलियाँ उपस्थित होती हैं, तभी कन्दर्प ने प्रत्यञ्चा पर बाण चढ़ा दिया, और आपके चित्र बनाने का कर्म आरम्भ करते ही, कन्दर्प के धनुष के द्वारा छोड़े गये अस्त्रों से अतिशय विदीर्ण होकर, शीघ्र ही भींत का सहारा लेकर वहाँ वह तुम्हारी प्यारी राधा ही चिरकाल तक चित्र लिखी सी बैठी रहती है ॥३६२॥

और अपने अन्तःकरण की भावना से ही साकार रूप में परिणत आपको अपने सामने ही उपस्थित समझकर जब तक आलिङ्गन करने

अथास्या एव सप्रणयेर्ष्यं जल्पितम् ।

गीति आर्या ।

मुखमाधुर्यसमृद्ध्या परहृदयस्य ग्रहीतरि प्रसभम् ।
कृष्णात्मनि परपुरुषे सौहृदकामस्य का शरीराशा ? ॥३६५॥

श्रीजगन्नाथसेनस्य ।

के लिये वेग से आगे की ओर अपनी भुजाओं को वलयाकार करती है, तब तक उस अपने शरीर को आलिङ्गन करके रोमाञ्चित हुई उस राधा को देखकर वृष्टि जल के बहाने बादलों ने भी रोना आरम्भ कर दिया यह मैं मानती हूँ, अर्थात् उसकी विरह दशा सब को असह्य है ।।३६३।।

और आपके वियोग से जायमान दुःख को हमारी सखी राधाने असह्य होने के कारण मानों इस प्रकार बाँट दिया है । विश्वासी होकर सुनो । निरन्तर बहने वाले नेत्र जल को उसने बन्धुओं के बटवारे में कर दिया है, अर्थात् उसकी दयनीय दशा देखकर उसके सब बान्धव निरन्तर अश्रु बहाते रहते हैं, और अपने विरहजन्य ताप को उसने अपनी सखियों में धर दिया है, अर्थात् सारी सखियाँ भी उसके ताप से सन्तप्त हैं । सारी दीनता उसने अपने सेवकों के पास मानों धरोहर के रूप में धर दी है, अर्थात् सेवकों की दीनता को देखकर तो दीनता भी दुःखी है, और अपने माता पिता आदि गुरुजनों के प्रति उसने अपनी सारी चिन्ता अर्पित कर दी है, अर्थात् यह जीवित रहेगी कि नहीं, इसी चिन्ता में इसके सारे गुरुजन प्रतिक्षण चिन्तित रहते हैं । अतः वह राधा तो आज या कल परम आनन्दित हो जायगी । केवल सूक्ष्म रूप से चलते हुए श्वासों से ही वह पीड़ित हो रही है, अर्थात् श्वास निकलते ही तो वह आपके वियोग से छुटकारा पाकर आनन्दित हो ही जायगी । अतः आपको भी यदि उसके वियोग से दुःखी नहीं होना है तो अभी तो

अथ व्रजदेवीना सोत्प्रासः सन्देशः ।

वसन्ततिलकम् ।

वाचा तृतीयजनसङ्कटदुःस्थया किं
किं वा निमेषविरसेन विलोकितेन ?
हे नाथ ! नन्दसुत ! गोकुलसुन्दरीणा-
मन्तश्चरी सहचरी त्वयि भक्तिरेव ॥३६६॥ कस्यचित् ।

कुछ श्वास बाकी हैं, शीघ्रातिशीघ्र आकर इसके प्राण बचा लो। तुम दोनों ही सुखी हो जाओ ॥३६४॥

राधा का प्रणय और ईर्षायुक्त वचन—

श्रीराधिकाजी की मूर्च्छा जब कुछ शान्त हुई तब बोली—अरी सखि ! क्या बड़बड़ा रही है ? सुन ! जो अपने मुख माधुर्य रूप सम्पत्ति द्वारा हठपूर्वक दूसरों के हृदय को ग्रहण कर लेता है, अर्थात् चुरा लेता है, ऐसे परमपुरुष श्रीकृष्ण में मित्रता का सम्बन्ध करने की इच्छा वाले जन के शरीर की क्या आशा है ? ॥३६५॥

व्रजदेवियों का उत्कण्ठ और हास्ययुक्त सन्देश—

हे नाथ ! हे नन्दसुत ! प्रथम तो हम तुम दोनों में प्रेम के सम्बन्ध से प्रेम का अद्वैत था, अब उस प्रेम के भङ्ग की सम्भावना में तृतीयजन की सङ्कटरूप दुरावस्था ये युक्त वचन से क्या प्रयोजन ? और मथुरा जाते समय आपने निमेष रहित दृष्टि से रसपूर्वक जो देखा था, अब बीते हुए उस अवलोकन से भी हमारा क्या कार्य सिद्ध हो सकता है, जब तक कि आप साक्षात् दर्शन नहीं दे रहे हैं ? हाँ, अब तो गोपसुन्दरियों के प्राण बचाने के लिये केवल उनके अन्तःकरण में विद्यमान तुम्हारी प्रेमलक्षणा भक्ति ही है, अर्थात् आपके प्रेम का आश्रय लेकर ही हम जीवित हैं ॥३६६॥

अथ यथार्थ सन्देशः ।

वियोगिनी ।

मुरलीकलनिक्वणैर्न या गुरुलज्जाभरमप्यजीगणन् ।
विरहे तव गोपिकाः कथं समयं ता गमयन्तु माधव ? ।।३६७।।

श्रीषष्ठीदासस्य ।

आर्या ।

मथुरापथिक ! मुरारेरुपगेयं द्वारि बल्लवीवचनम् ।
पुनरपि यमुनासलिले कालियगरलानलो ज्वलति ।।३६८।।

श्रीवीरसरस्वत्याः ।

यथार्थ सन्देश—

हे माधव ! जो गोपियाँ आपकी मुरली की मनोहर ध्वनियों से विमुग्ध होकर, गुरुजनों की अतिशय लज्जा को भी कुछ नहीं गिनती थीं, वे ही गोपियाँ आपके विरह में समय को कैसे बितावें ? ।।३६७।।

मथुरा के लिये जाते हुए उद्धवजी के प्रति सखियाँ बोलीं—हे मथुरा-पथिक ! आप मुरारी के दरवाजे पर जाकर गोपियों का यह वचन अवश्य उच्चस्वर से सुना देना कि श्रीयमुनाजी के जल में तो फिर भी कालियनाग के जहर की अग्नि जाज्वल्यमान हो रही है, अर्थात् पहले तो केवल यमुना में ही एक कालियनाग दुःखदायी था। अब तो यमुनाजी के सदृश आपके प्रेम से पवित्र प्रत्येक गोपी के हृदयसरोवर में आपका विरहानल धधक रहा है, अतः उस विरहरूपी कालियनाग को शीघ्र ही आकर गोपियों के हृदयसरोवर से चरणों की ठोकरों से निकाल दीजिये ।।३६८।।

अथ द्वारवतीस्थस्य हरेर्विरहः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

कालिन्दीमनुकूलकोमलरयामिन्दीवरश्यामला:
शैलोपान्तभुवः कदम्बकुसुमै रामोदिनः कन्दरान् ।
राधां च प्रथमाभिसारमधुरां जातानुतापः स्मर-
न्नस्तु द्वारवतीपतिस्त्रिभुवनामोदाय दामोदरः ॥३६९॥

श्रीशरणस्य ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

कामं कामयते न केलिनलिनीं नामोदते कौमुदी-
निस्यन्दैर्न समीहते मृगदृशामालापलीलामपि ।
सीदन्नेष निशासु निःसहतनुर्भोगाभिलाषालसै-
रंगैस्ताम्यति चेतसि व्रजवधूमाधाय मुग्धो हरिः ॥३७०॥

तस्यैव ।

द्वारका स्थित श्रीकृष्ण का विरह वर्णन—

श्रीशरण कवि कहते हैं कि—अनुकूल एवं कोमल प्रवाह वाली श्रीयमुनाजी का, नीलकमल के समान श्यामलवर्ण वाली गोवर्धन पर्वत की समीप की भूमियों का, कदम्ब के पुष्पों की सुगन्ध से आमोदित कन्दराओं का, एवं प्रथमाभिसार में मधुरतर श्रीराधिकाजी का बारंबार स्मरण करते हुए व्रजवासियों के विरह से विकल श्रीद्वारिकानाथ भक्त-वत्सल दामोदर त्रिभुवन के हर्षकारक हों ॥३६९॥

और क्रीड़ा के लिये रुक्मिणी आदि प्रेयसियों के द्वारा दी हुई कमलिनी को स्वेच्छापूर्वक ग्रहण नहीं करना चाहते। चन्द्रमा की चन्द्रिका के प्रवाह से भी प्रसन्न नहीं होते। मृगनयनी राजकुमारियों से भी परस्पर

मन्दाक्रान्ता ।

रत्नच्छायाच्छुरितजलधौ मन्दिरे द्वारकाया
रुक्मिण्यापि प्रबलपुलकोद्भेदमालिङ्गितस्य ।
विश्वं पायान्मसृण-यमुनातीरवानीरकुंजे
राधाकेलीपरिमलभरध्यानमूर्च्छा मुरारेः ॥३७१॥

श्रीउमापतिधरस्य

शार्दूलविक्रीडितम् ।

निर्मग्नेन मयाम्भसि प्रणयतः पाली समालिङ्गिता
केनालीकमिदं तवाद्य कथितं राधे ! मुधा ताम्यसि ।
इत्युत्स्वप्नपरम्परासु शयने श्रुत्वा वचः शार्ङ्गिणो
रुक्मिण्या शिथिलीकृतः सकपटं कण्ठग्रहः पातु वः ॥३७२॥

तस्यैव ।

वार्तालाप करना नहीं चाहते । केवल श्रीराधिकाजी को हृदय में धारण करके उनके विरह से दुःखित होते हुए, विमुग्ध श्रीहरि व्रजवासियों से मिलने की अभिलाषा से आलस्ययुक्त अङ्गों से, प्रत्येक रात्रि में खेद का अनुभव करते रहते हैं । विशेष क्या कहें ? विरह विकलता के कारण उनको अपना शरीर भी असह्य हो रहा है ॥३७०॥

श्रीउमापतिधरजी कहते हैं कि—भीतों में लगे हुए रत्नों की कान्ति से जो समुद्र में प्रतिबिम्बित हो रहा है, ऐसे राजमहल में श्रीद्वारका में विशिष्ट पुलकावलिपूर्वक श्रीरुक्मिणीजी के द्वारा जो आलिङ्गित हुए हैं, ऐसे मुरारी की ध्यानमयी मूर्च्छा विश्व की रक्षा करे । वह मूर्च्छा जिसके ध्यान में आई सो कहते हैं कि द्वारका में विराजमान श्रीहरि को कोमल यमुनातीर में बेंत की कुञ्ज में श्रीराधाजी के सहित हुई जो क्रीड़ा उसकी अतिशय सुगन्धी की याद आने से प्रेम मूर्च्छा आ गई थी ॥३७१॥

अथ वृन्दावनाधीश्वरीविरहगीतम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

याते द्वारवतीपुरं मुररिपौ तद्वस्त्रसंव्यानया
कालिन्दीतटकुंजवंजुललतामालम्ब्य सोत्कण्ठया ।
उद्गीतं गुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥३७३॥

श्रीअपराजितस्य ।

एक दिन श्रीकृष्ण और रुक्मिणी एक ही शय्या पर परस्पर कण्ठा-लिंगनपूर्वक शयन कर रहे थे। उस समय स्वप्न देखते हुए श्रीकृष्ण बोले—हे राधे ! क्रीड़ार्थ यमुना जल में गोता लगाते हुए मैंने पाली नाम की गोपी से आलिङ्गन किया है, यह मिथ्या बात आज तुमसे कौन ने कह दी ? इस मिथ्या बात से वृथा ही क्यों दुःखित हो रही हो ? इस प्रकार स्वप्न परम्परा में कहे हुए श्रीकृष्ण के वचन सुनकर जागती हुई रुक्मिणी ने किसी कण्डुति आदि के बहाने से जो कण्ठग्रह शिथिल कर दिया वह तुम्हारी रक्षा करे ॥३७२॥

श्रीराधा का विरह जनित गीत—

श्रीअपराजित पण्डित कहते हैं कि—श्रीकृष्ण के द्वारका चले जाने के बाद उनके उत्तरीय वस्त्र पीताम्बर को धारण करके कालिन्दी तट-वर्ति कुञ्ज की अशोक की लता को पकड़कर, उत्कण्ठायुक्त राधाने अधिक आँसुओं के कारण गद्गदतायुक्त गलत्तार स्वर से, अर्थात् ऊँचे स्वर से गायन किया जिससे जल में रहने वाले जलचरों ने भी उत्कण्ठतापूर्वक ऊँचे स्वर से शब्द किया, अर्थात् राधिका के रुदन को सुनकर पशु पक्षी भी रोते हैं, मनुष्यों का तो कहना ही क्या ? ॥३७३॥

अथ व्रजदेवीनां सन्देशः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

पान्थ ! द्वारवतीं प्रयासि यदि हे तद्देवकीनन्दनो
वक्तव्यः स्मरमोहमंत्रविवशा गोप्योऽपि नामोज्झिताः ?
एताः केलिकदम्बधूलिपटलैरालोकशून्या दिशः
कालिन्दीतटभूमयोऽपि भवतो नायान्ति चित्तास्पदम् ? ॥३७४॥

श्रीगोवर्धनाचार्यस्य ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

ते गोवर्धनकन्दराः स यमुनाकच्छः स चेष्टो वटो
भाण्डीरः स वनस्पतिः सहचरास्ते तच्च गोष्ठाङ्गणम् ।
किं ते द्वारवतीभुजङ्ग ! हृदयं नायाति दोषैरपी-
त्यव्याद्वो हृदि दुःसहं व्रजवधूसन्देशशल्यं हरेः ॥३७५॥

श्रीनीलस्य ।

व्रज की गोपियों का सन्देश—

हे पथिक ! यदि तुम द्वारका जा रहे हो तो देवकीनन्दन से हमारा यह सन्देश कह देना कि आपके प्रेमरूपी मोहिनी मन्त्र से विवश गोपियों को भी आपने त्याग दिया और क्रीड़ा कदम्बों की धूलि, अर्थात् पराग समूह से प्रकाश शून्य ये यमुनातीर की मनोहर भूमि भी आपके चित्त में स्थान नहीं पाती है, अर्थात् आपको ऐसे दिव्य व्रजधाम की याद नहीं आती है क्या ? ॥३७४॥

और हे द्वारवतीभुजङ्ग ! वे मनोहर श्रीगोवर्धन की कन्दरायें, वही श्रीयमुनाजी का कमनीय कूल, वही तुम्हारा यथेष्ट क्रीड़ा का सम्पादक

शार्दूलविक्रीडितम् ।

कालिन्द्याः पुलिनं प्रदोषमरुतो रम्याः शशांकांशवः
सन्तापं न हरन्तु नाम नितरां कुर्वन्ति कस्मात् पुनः ?
सन्दिष्टं व्रजयोषितामिति हरेः संशृण्वतोऽन्तःपुरे
निःश्वासाः प्रसृता जयन्ति रमणीसौभाग्यगर्वच्छिदः ॥३७६॥

श्रीपञ्चतंत्रकृतः ।

भाण्डीर नामक वट, और वही कालियदह के किनारे का प्रसिद्ध कदम्ब जिस पर चीर चुरा कर चढ़े थे, एवं वे ही तुम्हारे प्राणप्यारे सुदाम, श्रीदाम, वसुदाम, मधुमङ्गल, सुबल, स्तोककृष्णादि सहचर, तथा वही प्रसिद्ध श्रीव्रजराज के खरिक आँगन, क्या ये सब दोष के निमित्त भी तुम्हारे हृदय में याद नहीं आते ? इस प्रकार का व्रजगोपियों का सन्देश रूप शल्य, अर्थात् प्रेम का काँटा, जो हरि के हृदय में भी दुःसह हो गया था, वह तुम्हारी रक्षा करे, अर्थात् इस प्रणय कोप भरे सन्देश शल्य ने ही भक्तवत्सल को पुनः सदा के लिये व्रज बुला लिया ।।३७५॥

हे कृष्ण ! यमुनाजी का पुलिन, प्रदोषकालीन वायु, रमणीय चन्द्र-किरणें, ये सब सन्ताप हरणशील होकर भी हमारे विरह सन्ताप को यदि नहीं हरते हैं तो मत हरो, परन्तु पुनः पुनः अधिक सन्ताप को क्यों बढ़ाते हैं ? आपके अभाव में ये सब अपना विपरीत वैभव दिखा रहे हैं । इस प्रकार द्वारका के अन्तःपुर में शुक पक्षी के द्वारा व्रजगोपियों के सन्देश को सुनते हुए श्रीहरि के रमणीगण सौभाग्य गर्वच्छेदक जो लम्बे लम्बे श्वास निकले उनकी सदा जय हो, अर्थात् रुक्मिणी आदि पट-रानियों के साथ अन्तःपुर में हास्य परिहास परायण कृष्ण के कानों में शुक पक्षी द्वारा जब यह सन्देश पड़ा, तब जो तत्काल परिहास भूल गये और लम्बे लम्बे श्वास लेने लगे, तभी सब पटरानियों का "हम सब राजकुमारी भगवान् को सबसे प्यारी लगती हैं" इस प्रकार का सौभाग्य

अथ सुदामानं प्रति श्रीद्वारकेश्वरवचनम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

मा गा इत्यपमङ्गलं व्रज सखे ! स्नेहेन शून्यं वच-
स्तिष्ठेति प्रभुता यथाभिलषितं कुर्वित्युदासीनता ।
ब्रूमो हन्त सुदाम मित्र वचनं नैवोपचारादिदं
स्मर्तव्या वयमादरेण भवता यावद् भवद्दर्शनम् ॥३७७॥

श्रीहरेः ।

का जो गर्व था वह सब खण्डित हो गया। उस दिन से वे समझ गईं कि व्रज की गोपियाँ ही श्रीहरि को विशेष प्रिय हैं। अतः किसी कविने कहा भी है—

यार नहीं व्रजराजकुमार सो, प्यार नहीं व्रजवासिन कौ सौ,
हेत नहीं हरिभक्ति बरोबर, देश नहीं व्रजमण्डल जैसौ।
नाम रटैं जँह राधिका कृष्ण, निर्मल जल यमुना जल कैसौ,
नाम नहीं मनमोहन कौ सौ, गाम नहीं नन्दगाम है जैसौ ॥३७६॥

सुदामा के प्रति श्रीद्वारकेश्वर वचन—

अपने मित्र सुदामा का कई दिन तक यथेष्ट सत्कार करके विदाई करते समय श्रीकृष्ण अपने मित्र से बोले—हे सखे मित्रवर्य सुदामन् ! "तुम यहाँ से मत जाओ" यह निषेध वचन कहना तुम्हारी यात्रा के समय अपमङ्गल सा है। यदि कहूँ कि "तुम चले जाओ" तो यह वचन भी स्नेहशून्य है। यदि "यहीं ठहर जाओ" ऐसे कहता हूँ तो यह वचन प्रभुता का द्योतक होगा। मित्र के प्रति ऐसा अधिकारमय वचन बोलना उचित नहीं, और यदि यह कहता हूँ कि "तुम्हारी इच्छा हो सो करो" यह वचन भी मित्रता हीन उदासीनता का परिचायक है। हे मित्र

स्वगृहादिकं दृष्ट्वा तस्य वचनम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

तद्गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः
सा धेनुर्जरती चरन्ति करिणामेता घनाभा घटाः ।
स क्षुद्रो मुषलध्वनिः कलमिदं सङ्गीतकं योषितां
चित्रं हन्त कथं द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः ? ।।३७८।।

कस्यचित् ।

सुदामन् ! ये पूर्वोक्त हमारे वचन यथार्थ ही समझो । हम कुछ बनावटी बातें नहीं बना रहे हैं । सुनो मित्र ! जब तक तुम्हारा हमको पुनः दर्शन न हो तब तक तुम हमारा आदरपूर्वक स्मरण करते रहना ।।३७७।।

निज गृह आदि को देखकर सुदामा का वचन—

द्वारका से लौटकर अपने ग्राम घर आदि की विचित्र स्थिति देखकर सुदामा अपने आप कहने लगे—अहह ! वह नमी हुई टूटी फूटी भीतों वाला मेरा छोटा सा घर कहाँ चला गया, और उसके स्थान पर यह स्वर्ग को छूने वाला विशाल भवन किसने बना दिया ? यहाँ मेरी वह बूढ़ी दुबली पतली सी गैया टूटे से खूँटे पर बँधी रहती थी, यहाँ तो अब बादलों की काली काली घटाओं के समान सैकड़ों मदमत्त हाथी चर रहे हैं। कहाँ तो पहले यहाँ पर मेरी ब्राह्मणी के टूटे से मूसल का मामूली सा शब्द सुनाई पड़ता था, अब तो यहां पर स्वर्गीय दिव्याङ्गनाओं की सी वेषभूषा वाली स्त्रियों के मङ्गलाचारमय सुन्दर सङ्गीत हो रहे हैं । अहह ! हर्ष और आश्चर्य की बात तो यह है कि इस मुझ दीन दरिद्री ब्राह्मण को इतनी विशिष्ट भूमिका पर किसने चढ़ा दिया ? फिर आन्तरिक विचार आया कि यह मेरे मित्रवर्य यदूत्तम के दर्शनों का ही फल

अथ कुरुक्षेत्रे श्रीवृन्दावनाधीश्वरीचेष्टितम् ।

वसन्ततिलकम् ।

येनैव सूचितनवाभ्युदयप्रसङ्गा
मीनाहतिस्फुरित-तामरसोपमेन ।
अन्यन्निमील्य नयनं मुदितैव राधा
वामेन तेन नयनेन ददर्श कृष्णम् ॥३७९॥

श्रीहरस्य ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

आनन्दोद्गतबाष्पपूरपिहितं चक्षुः क्षमं नेक्षितुं
बाहू सीदत एव कम्पविधुरौ शक्तौ न कण्ठग्रहे ।
वाणी संभ्रमगद्गदाक्षरपदा संक्षोभलोलं मनः
सत्यं वल्लभसङ्गमोऽपि सुचिराज्जातो वियोगायते ॥३८०॥

श्रीशुभ्रस्य ।

है । उसी समय सखियों सहित आकर इनकी पत्नीने इनकी आरती की और वैभव का कारण बताया ॥३७८॥

कुरुक्षेत्र में श्रीराधा की चेष्टा—

श्रीहर कवि कहते हैं—मछली के आघात से स्फुरित चंचल कमल के समान जिस नेत्र से परस्पर मिलनरूप नवीन अभ्युदय की सूचना दी थी श्रीराधाजी अपने उसी वामनेत्र से मुदित होकर दक्षिण नयन निमीलन करके श्रीकृष्णचन्द्र का चारु दर्शन करने लग गई ॥३७९॥

श्रीशुभ्र कविवर कहते हैं कि—श्रीकृष्ण के मिलते ही श्रीराधा की यह स्थिति हो गई कि दर्शन जन्य आनन्द से उत्पन्न अश्रुधारा से ढके हुए नेत्र ठीक से दर्शन करने में भी समर्थ नहीं हुए, कम्प से विकल

अथ रहस्यनुनयन्तं कृष्णं प्रति राधावाक्यम् ।

मन्दाक्रान्ता ।

किं पादान्ते लुठसि विमनाः स्वामिनो हि स्वतंत्राः
कञ्चित् कालं क्वचिदभिरतस्तत्र कस्तेऽपराधः ?
आगस्कारिण्यहमिह यया जीवितं त्वद्वियोगे
भर्तृप्राणाः स्त्रिय इति ननु त्वं ममैवानुनेयः ॥३८१॥

कस्यचित् ।

दोनों भुजायें दुःखित सी हो रही हैं । अतः प्रियतम के कण्ठग्रहण करने में भी अशक्त हो गयीं हैं । वाणी भी गौरव के कारण गद्गदतायुक्त अक्षर पदों वाली हो गई,अर्थात् प्रेम वेग में रुक गई, एवं मन भी संक्षोभ-युक्त और चंचल हो चला । सत्य बात तो यह है कि बहुत दिन बाद हुआ अपने प्यारे का संयोग भी आज वियोग का सा आचरण कर रहा है ।।३८०।।

एकान्त में अनुनय करते हुए कृष्ण के प्रति राधा वाक्य—

श्रीराधा बोली—अहह प्यारे ! आप दुःखित से होकर मेरे चरणों के समीप क्यों लोट-पोट हो रहे हो ? स्वामी तो स्वतन्त्र होते हैं । अतः यदि आप कार्यवशात् कुछ काल तक कहीं आसक्त भी हो गये तो इसमें तुम्हारा क्या अपराध है ? अपराधकारिणी तो प्रभो ! मैं ही हूँ । जिसने तुम्हारे वियोग में भी जीवन धारण किये रक्खा, क्यों कि स्त्रियों के तो भर्ता ही प्राण होते हैं । अतः उनके वियोग में जीना उचित नहीं है । इसलिये तुम्हीं मेरे अनुनय के पात्र हो, अर्थात् मुझे ही तुमसे अनुनय विनय करके अपने अपराध की क्षमा मांगनी चाहिये । यह आप उलटा अनाचार क्यों कर रहे हैं ? ३८१।।

अथ तत्रैव सखीं प्रति श्रीराधावचनम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥३८२॥

कस्यचित् ।

शिखरिणी ।

प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि ! कुरुक्षेत्रमिलित-
स्तथाहं सा राधा तदिदमुभयोः सङ्गमसुखम् ।
तथाप्यन्तःखेलन्मधुरमुरलीपञ्चमजुषे
मनो मे कालिन्दीपुलिनविपिनाय स्पृहयति ॥३८३॥

समाहर्तुः ।

उसी स्थान पर सखी के प्रति राधा वाक्य—

हे सखि ! कुमारावस्था में ही जिसने हमारे मन को हर लिया था, वही सुन्दरवर भी यहाँ उपस्थित है । वे चैत्र मास की सुहावनी रात्रियाँ भी हैं, खिली हुई मालती की सुगन्धियाँ भी वे ही हैं, और बढ़ी चढ़ी, शीतल, मन्द, सुगन्धयुक्त वे ही कदम्ब की वायु हैं, एवं मैं भी वही हूँ, तथापि सुरत व्यापारलीला विधि के निमित्त उपयुक्त रेवा नदी के तीरस्थ अशोक वृक्ष के तल में मेरा मन उत्कण्ठित होता है, अर्थात् सब कुछ होने पर भी वह निर्जन रेवा नदी का किनारा और तत्रस्थ अशोक वृक्ष का तल भाग यहाँ नहीं है, उसी स्थान के जिये मेरा मन तड़फड़ा रहा है ।।३८२।।

अथ समाप्तौ मंगलाचरणम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

मुग्धे ! मुंच विषादमत्र बलभित् कम्पो गुरुस्तज्यतां
सद्भावं भज पुण्डरीकनयने ! मान्यानिमान् मानय ।
लक्ष्मीं शिक्षयतः स्वयंवरविधौ धन्वन्तरेर्वाक्छला-
दित्यन्यप्रतिषेधमात्मनि विधिं शृण्वन् हरिः पातु वः ।।३८४।।

कस्यचित् ।

हे सहचरि ललिते ! इस कुरुक्षेत्र में मिलने वाले हमारे प्राणप्यारे वही श्रीकृष्णचन्द्र हैं, मैं भी वही राधा हूँ । हम दोनों का परस्पर मिलन सुख भी वही है, तथापि अपने मध्य में खेलती हुई मधुर मुरली के पंचम स्वर विशिष्ट राग का जो सेवन कर चुका है, कालिन्दी के तीर पर विराजमान उसी परम रमणीय श्रीवृन्दावन के लिये मेरा मन चाहता है ।।३८३।।

ग्रन्थ समाप्ति में मङ्गलाचरण—

हे मुग्धे लक्ष्मि ! विषाद को इस मङ्गलमय स्वयंवर के समय बिलकुल त्याग दो । बल को क्षीण करने वाले विशिष्ट कम्प को भी त्याग दो । हे कमलनयनि ! सद्भाव धारण करो। इन माननीय ब्रह्मादिकों का सम्मान करो। इस प्रकार स्वयंवर विधि में लक्ष्मीजी को शिक्षा देते हुए श्रीधन्वन्तरि के वाक् छल से अन्य व्यक्तियों के निषेधपरक और अपने में विधिपरक वचनों को सुनते हुए श्रीविष्णु भगवान् तुम्हारी रक्षा करें । यह तो हुआ शब्दार्थमात्र । अन्य निषेधपरक भगवान् में विधिपरक श्लेषार्थ का अब श्रवण करो । स्वयंवर में श्रीलक्ष्मीजी जयमाला लेकर योग्य वर को पहनाने के किये जब उपस्थित हुईं, तब शिक्षा देते हुए

अनुष्टुभ् ।

यदुवंशावतंसाय वृन्दावनविहारिणे ।
संसारसागरोत्तारतरये हरये नमः ॥३८५॥

श्रीअविलम्बसरस्वत्याः ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

भ्राम्यद्भास्वरमन्दराद्रिशिखर-व्याघट्टनादविस्फुरत्-
केयूराः पुरुहूतकुंजरकरप्राग्भारसंवर्धिनः ।
दैत्येन्द्रप्रमदाकपोलविलसत्पत्रांकुरच्छेदिनो
दोर्दण्डाः कलिकालकल्मषमुषः कंसद्विषः पान्तु वः ॥३८६॥

श्रीयोगेश्वरस्य ।

श्रीधन्वन्तरिजी कहते हैं—हे मुग्धे परमसुन्दरि ! अथवा माला पहनाने के कर्म में अचतुरे । सुन मेरी बात "विषादं मुञ्च" (विषमत्तीति विषादः शिवस्तमत्र मुंच त्यजेत्यर्थः), अर्थात् इस विष खाने वाले शंकर को माला नहीं पहनाना, और "बलभित्" (बलनामकं दैत्यं भिनत्ति विदारयतीति बलभिदिन्द्रः), अर्थात् बल नामक दैत्य को मारने वाले इन्द्र को भी दूर से ही त्याग दो । "कम्पः" (कं जलं पाति रक्षतीति कम्पो वरुणः), अर्थात् जल की रक्षा करने वाले वरुणदेव को छोड़ दो । "गुरुः", अर्थात् बृहस्पतिजी को भी दूर से ही नमस्कार करलो । "पुण्डरीकनयने" (पुण्डरीके इव नयने यस्य तस्मिन् कमलनेत्रे सद्भावं श्रेष्ठभावं भज स्वीकुरु), अर्थात् कमलनयन विष्णु भगवान् में ही अपना सद्भाव जमाये रक्खो । अन्यान् इमान् शिवादीन् उद्दिष्य तान् प्रति आत्मानं मा नय न प्रापय, अर्थात् इन अन्य शिव आदिकों के प्रति अपने को मत ले जाओ । अन्यत् पूर्ववत् ॥३८४॥

आर्या ।

जयदेवबिल्वमङ्गलमुखैः कृता येऽत्र सन्ति सन्दर्भाः ।
तेषां पद्यानि विना समाहृतानीतराण्यत्र ।।३८७।। समाहतुं : ।

श्रीअविलम्ब सरस्वतीजी कहते हैं कि—यदुवंशशिरोमणि, बृन्दावन-विहारी, संसार सागर से पार करने में नौकास्वरूप श्रीहरि के लिये हमारा बारंबार नमस्कार स्वीकार हो ।।३८५।।

कविवर श्रीयोगेश्वरजी कहते हैं कि—कलिकाल के कल्मष को चुराने वाले कंसारि श्रीकृष्ण के हाथी की सूंड़ के समान उतराव चढ़ाव वाले वे भुजदण्ड तुम्हारी रक्षा करें कि जिनके बाजूबन्द भ्रमणशील देदीप्यमान मन्दराचल पर्वत की शिखरों की रगड़ से अधिक चमकीले हो गये हैं, और जो बलिराजा से राज्य छीन कर इन्द्र को समर्पित कर देने के कारण पहले की तरह ऐरावत हाथी की सूंड़ की राज्यसत्ता का भार बढ़ाने वाले हैं, अथवा "सम्मर्दिनः" इस पाठ में जो अपनी शोभा से ऐरावत हाथी की सूंड़ा के मानभार को भी मर्दन करने वाले हैं, एवं बड़े बड़े दैत्यों को मारने के कारण उनकी धर्मपत्नियों के कपोलों की पत्रांकुरादिरूप सारी चित्रकारी का छेदन करने वाले हैं ।।३८६।।

श्रीपद्यावली संग्रह करने वाले श्रीरूप गोस्वामीजी निवेदन करते हैं कि कविकुलचक्र चक्रवर्ती श्रीजयदेवजी एवं लीलाशुक श्रीबिल्वमङ्गल प्रभृति भगवद् रसिक महापुरुषों ने जो "श्रीगीतगोविन्द", "श्रीकृष्णकर्णामृत" प्रभृति ग्रन्थरत्न बनाये हैं, उनके पद्यों को छोड़कर इस श्रीपद्यावली में तो अन्य महापुरुषों की कवितायें ही संगृहीत कर दी हैं । श्रीजयदेव, बिल्व-मङ्गलजी की तो सम्पूर्ण ही कविता उपादेय है, उस में त्याज्यांश कुछ भी नहीं है । अतः पाठकगण उनकी पद्यावली का रस तो उन्हीं के ग्रन्थों से ले सकते हैं ।।३८७।।

आर्या ।

लसदुज्ज्वलरससुमना गोकुलकुलपालिकालिकलितः ।
मदभीप्सितमभिदद्यात् तरुणतमालकल्पपादपः कोऽपि ॥३८८॥

समाहर्तुः ।

इति माधुर्यनन्दनकाननकोकिलेन श्रीहरिकीर्तनसुधारसनिर्यास-लसल्लीलास्वधु नीविहारिराजहंसेन श्रीभगवत्कृष्णचैतन्यपार्षदेन परमरसिकभागवतकविकुलमुकुटमणिना

श्रीलरूपगोस्वामिप्रभुपादेन

प्रणीता तथा तत्समाहृता

श्रीपद्यावली समाप्ता ।

ग्रन्थकार ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए अपने इष्टदेव से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि—देदीप्यमान उज्ज्वल, अर्थात् उपलक्षणत्वेन शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, शृङ्गार प्रभृति भक्ति के मुख्य रस ही जिसके सुन्दर पुष्प हैं, और जो गोकुल की गैया, गोप, गोपीरूप भ्रमरों से परिसेवित है, अर्थात् ये भौंरे जिस पर मँडराते रहते हैं, ऐसा अचिन्त्य कोई तरुण तमाल कल्पवृक्ष मेरे अभिलषित मनोरथ को कृपया मुझे प्रदान कर दे ॥३८८॥

टीकाकार का नम्र निवेदन—

श्रीरूपसंकलित-निर्मित-पद्यवृन्दे
टीका मया ननु यथामति संव्यधायि ।
या या भवेयुरिह विच्युतयो मदीया-
स्तास्ता गुणज्ञरसिकैर्भुवि शोधनीयाः ॥१॥

श्रीकृष्णानन्ददासानुचरविरचिता टीकिकेयं समाप्ता
भक्तानां सौख्यदात्री प्रतिपदममलप्रेमपीयूषपात्री ।
दृष्ट्वेमां पद्यपंक्तिप्रकटनचतुरां भावुका ! भावसिन्धौ
स्नात्वा पूर्वं ततो मां स्नपयत कृपया बालकं मातृकेव ।।२।।

भावार्थ—श्रीरूप गोस्वामि द्वारा संगृहीत एवं स्वरचित इस श्रीपद्यावली ग्रन्थ पर मुझ मन्दमति (वनमालिदास) ने श्रीहरि-गुरु-वैष्णवों की अहैतुकी कृपा से जैसी मुझ में बुद्धि थी उसी के अनुसार हिन्दी भाषाटीका की रचना कर दी । इस टीका में जो जो मेरी त्रुटियाँ रह गईं हों तो उनको समस्त भूतल में विराजमान गुणज्ञ रसिकजन शुद्ध कर सकते हैं ।।१।।

पूज्यपाद गुरुदेव श्रीकृष्णानन्ददासजी महाराज के कृपापात्र एक लघुतर अनुचर के द्वारा विरचित यह श्रीपद्यावली की टीका सम्पूर्ण हुई । यह टीका रसिक भक्तों के लिये परमसुखदायिनी है, एवं पद पद पर निर्मल प्रेमपीयूष की पोषिका है । हे भावुक सज्जनो ! आपके श्रीचरणों में मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि प्रथम तो श्रीपद्यावली के भाव को प्रगट करने में चतुर इस टीका को देखकर, भावरूपी सिन्धु में गोता लगाकर, तदनन्तर भावमयी माता जैसे अपने बालक को स्नान कराती है, उसी प्रकार मुझ बालक को भी भावसिन्धु में कृपया स्नान करा देना ।।२।।

टीका समाप्ति कालः वि० सं० २०१६ श्रीरामनवमी । इति श्रीनिखिल-
शास्त्रपारावारपारदृश्व-सख्यावताराष्टोत्तरशतश्रीस्वामिकृष्णानन्ददासजी-
महाराजानां शिष्येण, वृन्दावनस्थ-"श्रीकृष्णानन्दाश्रम"-संस्थापकेन,
काव्यवेदान्ततीर्थेन, घटिकाशतकेन, वृन्दाटवीवसतिलब्धकवित्व-
शक्तिना, महाकविना, श्रीवनमालिदासशास्त्रिणा विरचिता
"श्रीपद्यावलीप्रकाशिका"-नाम्नी हिन्दीभाषाटीका
समाप्ता ।

परिशिष्टम् ।

[३७ तम–पद्यतः परम्]

उपेन्द्रवज्रा ।

मुकुन्द विष्णो जगदीश शौरे ! प्रभो हरे माधव दीननाथ !
अनाथनाथाच्युत वासुदेव ! भवाब्धिपारं कुरु मामनाथम् ॥१॥

श्रीकृष्णदेवशर्मणः ।

[४६ तम–पद्यतः परम्]

स्रग्धरा ।

बर्हापीडाभिरामं मृगमदतिलकं कुण्डलाक्रान्तगण्डं
कंजाक्षं कम्बुकण्ठं स्मितसुभगमुखं स्वाधरे न्यस्तवेणुम् ।
श्यामं शान्तं त्रिभङ्गं रविकरवसनं भूषितं वैजयन्त्या
वन्दे वृन्दावनस्थं युवतिशतवृतं ब्रह्म गोपालवेशम् ॥२॥

कस्यचित् ।

परिशिष्ट भाग—

हे मुकुन्द ! हे विष्णो ! हे जगदीश ! हे शूरसेन वंशोत्पन्न ! हे भक्तक्लेशहारिन् हरे ! हे माधव ! हे दीनानाथ ! हे अनाथों के नाथ ! अच्युत ! भगवन् ! वासुदेव ! मुझ अनाथ को संसारसागर से पार कर दीजिये ॥१॥

जो मयूरमुकुट से सुशोभित है, जिसके विशाल ललाट पर कस्तूरी-केशर मिश्रित चन्दन का तिलक विराजमान है, जिसके इन्द्रनीलमणि के दर्पणों के दर्प को चूर्ण करने वाले दोनों मनोहर कपोलों में मकाराकृति कुण्डलों की परछाई पड़ रही है, विकसित सितकमल के से जिसके नयन-युगल हैं, शंख के समान उतराव चढ़ाव वाली जिसकी ग्रीवा है, मन्द मुसकानयुक्त जिसका मुखारविन्द है, अपने बिम्बफल सदृश अधर पर

[६० तम—पद्यतः परम्]

वसन्ततिलकम् ।

आर्तस्य मे प्रणमतो जगदन्तरात्मन् !
पश्यन्न पश्यसि विभो ! न शृणोषि शृण्वन् ।
दुर्दैवकुम्भजनुषा ननु साम्प्रतं मे
पीतास्त्वदीयकरुणावरुणालयोऽपि ॥३॥

[७१ तम—पद्यतः परम्]

शार्दूलविक्रीडितम् ।

अद्यापि स्मरवैरिणः पदयुगं नाराधितं न स्तुतं
न ध्यातं न च कीर्तितं न च पुनर्ध्यातव्यमास्ते क्वचित् ।
किन्तु त्वच्चरणार्चनापरिचयव्यग्रीभवन्मानसं
त्वं चेदच्युत ! नोद्धरेः करुणया यास्यामि कस्याश्रयम् ? ॥४॥

श्रीतिरोहितस्य ।

वेणु जिसने स्थापित कर रक्खी है, जो स्वतः नूतन जलधर समान श्यामलवर्ण है, शान्त है, सूर्य की किरणों के समान देदीप्यमान जो पीताम्बर धारण किये हुए है, वैजयन्ती माला से जो विभूषित है, और सैकड़ों गोपियों से जो चारों ओर से घिरा हुआ है, ऐसे श्रीधामवृन्दावनस्थ गोपाल वेशधारी परं ब्रह्म की मैं वन्दना करता हूँ ॥२॥

हे जगदन्तर्यामिन् ! मैं सांसारिक क्लेशों से परम पीड़ित हो कर त्राण की अभिलाषा से आपको बारंबार प्रणाम कर रहा हूँ । आप देखते हुए भी मुझ दीन के दुखों की ओर दृष्टिपात क्यों नहीं करते हो ? हे विभो ! आप सुनते हुए भी मुझ आर्त के आर्तनाद को क्यों नहीं सुनते हो ? मुझे तो निश्चित होता है कि प्रभो ! इस समय मेरे दुर्भाग्य रूपी अगस्त्य ने आपका करुणावरुणालय झार के पी लिया है ॥३॥

[७६ तम—पद्यतः परम्]

शार्दूलविक्रीडितम् ।

स्नानं म्लानमभूत् क्रिया न च क्रिया सन्ध्या च वन्ध्याभवद्-
वेदः खेदमवाप शास्त्रपटली सम्पूटितान्तःस्फुटा ।
धर्मो मर्महतो ह्यधर्मनिचयः प्रायः क्षयं प्राप्तवान्
चित्तं चुम्बति यादवेन्द्रचरणाम्भोजे ममाहर्निशम् ॥५॥

कस्यचित् ।

इतनी आपत्तियों के आने पर भी आज तक कभी भी स्मरमर्दन श्रीशंकरजी के पादयुगलों का न तो मैंने आराधन ही किया, न उनकी स्तुति ही की, न ध्यान, और न उनके मङ्गलमय नाम का ही कीर्तन किया है, एवं आगे कहीं मुझे उनके पादयुगल का ध्यान करना भी नहीं है। किन्तु हे अच्युत ! तुम्हारे श्रीचरणों की परिचर्या के परिचय से ही मेरा मन तो व्यग्र हो रहा है, अर्थात् निष्ठापूर्वक आपके ही श्रीचरणों की सेवा करना चाहता हूँ। यदि अहैतुकी करुणा से तुम मेरा उद्धार नहीं करते हो तो बताओ, मैं किसके आश्रय को ग्रहण करूँ ? तात्पर्य—हे अच्युत ! मेरा मन तो आपके श्रीचरणों को त्यागना नहीं चाहता ॥४॥

पूर्वश्लोक में भक्त की अनन्य निष्ठा का वर्णन हुआ। अब उसकी दिनचर्या का वर्णन करते हैं। श्रीकृष्णचरणानुरागनिष्ठ कोई भक्त अन्य प्रिय भक्त से कहता है कि—हे भाई ! मेरा चित्तरूपी भ्रमर तो निरन्तर श्रीकृष्ण के चारु चरणारविन्दद्वय का चुम्बन करता रहता है। अतः मेरा नैत्यिक स्नान भी म्लान हो गया है, नित्य नैमित्तिक क्रिया भी अक्रिया रूप में परिणत हो गई है, त्रैकालिक सन्ध्या भी वन्ध्या हो गई है, वेद भी नित्य पारायणाभाव से मुझसे खेद को प्राप्त हो गया है,

अथ मथुराया नतिः ।

[११८ तम–पद्यतः परम्]

वसन्ततिलकम् ।

राजद्वराभयकरां वरकुण्डलाढ्या-
मुत्सङ्गमण्डलविहारिशिखण्डचूडाम् ।
चित्राम्बरं च दधतीं शरदभ्रशुभ्रां
ध्वस्ताश्रितक्लमभरां मथुरां नमामि ॥६॥

अन्तःकरण में विद्यमान शास्त्र समूह भी मंजूषा में बन्द पड़े हैं, अर्थात् उनको देखने का अवकाश ही नहीं हैं, लौकिक वर्णाश्रम धर्म भी मर्माहत हो गया है। विशेष क्या कहूँ ? श्रीहरिभक्ति की कृपा से अधर्म समूह प्रायः क्षीण हो गया है। तात्पर्य—निरन्तर श्रीभगवच्चरण ध्याननिष्ठ जन की यह स्वाभाविकी स्थिति बन जाती है। फिर बहिरङ्ग ध्यान न होने से उससे पूर्वोक्त कोई भी क्रिया ठीक से नहीं बन पाती है। यह स्थिति भी श्रीभगवत्कृपा से किसी किसी भाग्यशाली जीव को ही प्राप्त होती है। (मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगमित्युक्तेः) ॥५॥

मथुरापुरी को नमस्कार—

जो देदीप्यमान सुन्दर एवं अभयप्रद करकमलयुगल वाली हैं, श्रेष्ठ मणिमय कुण्डलों से जो युक्त हैं, जिसकी मयूरपुच्छ के समान लम्बायमान वेणी गोदी में विहार कर रही है, जो चित्रविचित्र वस्त्र धारण किये हुए हैं. और शरत्कालीन मेघ के समान जो स्वच्छ गौरवर्ण वाली हैं, एवं जो अपने शरणागतों के सांसारिक समस्त दोष को नष्ट कर देती हैं, ऐसी श्रीमथुराजी को मैं बारंबार नमस्कार करता हूँ ॥६॥

[१२५ तम–पद्यतः परम्]

मालिनी ।

कथमपि तव वृन्दारण्यमाहात्म्यवृन्दं
न हि कथयितुमुच्चैरीश्वरोऽपीश्वरः स्यात् ।
अपि च तृणफलानां यस्य लुब्धो रसाय
प्रभुरमृतभुजामप्याश्रयद्वत्सभावम् ॥७॥ कस्यचित् ।

[१२८ तम–पद्यतः परम्]

उपजातिः ।

श्रीदाममुख्यान् सुबलान् सुदीप्तान् सस्तोककृष्णार्जुनभद्रसेनान् ।
वरूथपौजस्विवृषानदेवप्रस्थान् विराजद्वृषभान् नमामि ॥८॥

कस्यचित् ।

श्रीवृन्दावन माहात्म्य—

हे श्रीधामवृन्दावन ! तुम्हारे माहात्म्यवृन्द को तो ईश्वर भी ठीक ठीक रूपेण वर्णन करने को समर्थ नहीं हो सकते । कारण जिसके तृण एवं फलों के रस को चाखने के लिये लुब्ध होकर देवताओं के स्वामी अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड नायक गोलोकाधीश्वर भी वत्सभाव को प्राप्त हो गये, अर्थात् बछड़ा बन गये ॥७॥

श्रीकृष्ण सखाओं को प्रणाम—

श्रीदाम ही हैं मुख्य जिनमें ऐसे सुबल, सुदीप्त, स्तोककृष्ण, अर्जुन, भद्रसेन, वरूथप, ओजस्वी, वृषान, देवप्रस्थ, एवं शोभायमान वृषभ आदि श्रीकृष्णचन्द्र के सखाओं को मैं प्रणाम करता हूँ ॥८॥

अथ तल्पादुत्थाय श्रीकृष्णचेष्टा ।

[१३९ तम–पद्यतः परम्]

शार्दूलविक्रीडितम् ।

प्रातर्यः करपल्लवेन शयनादुत्थाय नेत्रं मृजन्
किं भक्षामि वताद्य तात ! भवने किञ्चिन्न ते भक्षितुम् ।
अस्तीदं कदलीफलं नय हरे ! तद्याचितो राधया
तामंगुष्ठमचालयत् परिचितं वन्देऽरविन्देक्षणम् ॥९॥

कस्यचित् ।

[१७५ तम–पद्यतः परम्]

शार्दूलविक्रीडितम् ।

निन्दन्तु प्रियबान्धवा गुरुजना गंजन्तु मुञ्चन्तु वा
दुर्वादं परिघोषयन्त्वभिजना वंशे कलङ्कोऽस्तु वा ।
तादृक् प्रेमनवानुरागमधुना मत्तायमानं तु मे
चित्तं नैव निवर्तते क्षणमपि श्रीकृष्णपादाम्बुजात् ॥१०॥

कस्यचित् ।

प्रातः शय्या से उठकर श्रीकृष्ण की चेष्टा—

कदाचित् प्रातःकाल शय्या से उठकर करपल्लव से नेत्रों को मीड़ते हुए श्रीकृष्ण बाल्यसुलभ चपलतापूर्वक अपने पिता श्रीनन्दरायजी से बोले—पिताजी ! आज मैं क्या खाऊँ ? तब नन्दजी बोले—लाला ! नन्दभवन में आज खाने के लिये कुछ भी नहीं है ? तब कृष्ण बोले—पिताजी ! यह केले का फल है तो सही। नन्दजी बोले—तो लाला ! ले ले । उसी समय श्रीराधिकाजी ने उस फल को श्रीकृष्ण से मांगा । तब श्रीकृष्ण ने उनकी ओर अंगूठा चलाते हुए कहा कि "टीलीलीली

[२३३ तम—पद्यतः परम्]

शार्दूलविक्रीडितम् ।

शीतांशोः शरदा तपन्ति किरणाः श्रीखण्डचर्चा विष-
ज्वालन्ति ज्वलनन्ति तामरसिनी-पत्राणि वामभ्रुवाम् ।
एकस्यैव शिशोरमुष्य मुरलीनादेन सूयेत चेत्
पुत्रान्नन्दकुटुम्बिनी त्रिचतुरान् का स्यादमूषां मतिः ? ।।११।।

श्रीमत्प्रभूणाम् ।

झर्र,टीलीलीली झर्र'' । इस प्रकार भक्तसुखार्थ बालविनोद जिसने किये, ऐसे कमल नयन भगवान् को मैं बारंबार प्रणाम करता हूँ ।।९।।

पूर्वराग श्रृङ्गार विशिष्टा कोई गोपी अपनी सखी से कहती हैं कि—हे सहचरि ! मेरे प्रिय भाई, बान्धव यदि मेरी निन्दा करते हैं तो करो । मेरे माता-पिता, सासु-ससुर आदि गुरुजन यदि मुझे फटकारते हैं तो फटकारने दो । अथवा मुझे त्यागना भी चाहते हैं तो त्याग दो । मेरे सेवक सेविकायें यदि मेरे इस दुर्वाद की घोषणा करते हैं तो यथेष्ट करने दो । और नन्दलाल से स्नेह करने से यदि हमारे वंश में कलंक भी होता है तो भले ही होने दो । इन बातों की मुझे कोई परवाह नहीं है । कारण कि उस श्रीकृष्ण के अलौकिक प्रेम एवं नवानुरागरूप मधु से मदमत्त हुआ मेरा मन तो एक क्षण भी श्रीकृष्णचन्द्र के चारु चरणारविन्द से अलग नहीं होना चाहता ।।१०।।

श्रीसनातन गोस्वामीजी तो कहते हैं कि—श्रीकृष्ण के विरह में व्रजगोपियों कि यह दशा है कि शरद ऋतु के चन्द्रमा की शीतल किरणें भी उनको तापप्रद हो रही हैं । मलयागिरि चन्दन का लेप भी विष की ज्वालाओं के समान प्रतीत होता है । कमलिनियों के कोमल पत्र भी अग्नि का सा व्यवहार करते हैं । नन्दरानी के इस एक ही लाला की

[२६८ तम–पद्यतः परम्]

मन्दाक्रान्ता ।

गोप्यो यूयं शृणुत सहते नौस्तृतीयं न यस्मा-
दप्येकैकं तदिह भवतीस्तीरमुत्तारयामि ।
इत्युक्ताभिर्मसृणनयनैराभिरापीयमानो
गोपीभर्ता पुलकपटलीप्रावृतः पातु सोऽस्मान् ॥१२॥

श्रीसञ्जयस्य ।

गोपीनामुक्तिः ।

[२६९ तम–पद्यतः परम्]

रथोद्धता ।

नन्दनन्दन ! कलिन्दनन्दिनीपारणातरविधानवेतनम् ।
पञ्च वा षडथवा वराटिका नीविबन्धमणिमोचनेन किम् ॥१३॥

कस्यचित् ।

मुरली ध्वनि से व्रजगोपियों की जब ये दशा है, तब दैवयोग से श्रीयशोदाजी ऐसे त्रिभुवन मोहन तीन चार पुत्रों को यदि उत्पन्न कर देतीं तो बिचारी इन गोपियों की क्या दशा होती ? ।।११।।

नौका लीला प्रसङ्गों में श्रीसञ्जय कवि कहते हैं कि—श्रीकृष्ण गोपियों से बोले—हे गोपियो ! सुनो मेरी बात । यह मेरी नौका तीसरे व्यक्ति को नहीं सहती हैं । अतः आप सबको मैं एक एक करके उस तीर पर उतार दूँगा । इस प्रकार कहने पर इन सब गोपियों ने स्नेह भरी दृष्टि से जिनके रूपामृत का पान किया, अतः पुलक समूह व्याप्त वही गोपीभर्ता श्रीकृष्ण हमारी रक्षा करे, अर्थात् गोपियों को जिस प्रकार यमुनापार पहुँचा दिया, उसी प्रकार हमें भी हँस हँसकर कृपया दुस्तर संसारसागर से पार लगादे ।।१२।।

[२६९ तम–पद्यतः परम्]

रथोद्धता ।

अञ्चलं चपल ! मुञ्च मामकं किं तवास्ति परयोषिति स्पृहा ?
जीवितं वहसि तक्रविक्रये नन्दनन्दन ! कथं न लज्जसे ? ॥१४॥

कस्यचित् ।

अथ श्रीकृष्णोक्तिः ।

[२७३ तम–पद्यतः परम्]

अनुष्टुभ् ।

अनयोः स्तनयो राधे ! पीनवृत्त नितम्बिनि !
स्वभावादतिगुर्वीयं नौका मज्जति जीवने ॥१५॥ कस्यचित् ।

गोपियों की उक्ति—

सब गोपियाँ बोलीं—हे नन्दलालजी ! श्रीयमुनाजी के पार उतारने का वेतन (किराया) तो पाँच अथवा छै कौड़ी होता है, फिर नीविबन्ध मणि मोचन से क्या प्रयोजन, अर्थात् हमारी कटि में बँधी हुई कौंधनी की मणियों के खोलने से क्या स्वार्थ है ? ॥१३॥

श्रीराधिकाजी बोलीं --हे चपलशिरोमणे ! मेरे अंचल को छोड़ दो । पराई बहू बेटियों में तुम्हारी तृष्णा क्यों लगी रहती है ? और छाछ (मठा) वेच वेच कर तो अपना जीवन निर्वाह कर रहे हो । हे नन्दनन्दन ! तथापि तुम लज्जित क्यों नहीं होते हो ? ॥१४॥

श्रीकृष्ण की उक्ति—

श्रीकृष्ण बोले—हे नितम्बिनि राधे ! इन तुम्हारे दोनों पयोधरों का आकार स्थूल एवं भारयुक्त है, अतः स्वभाव से ही भारी यह मेरी नौका तो जल में डूबी जा रही है । अब तो जीवन की भी आशा नहीं है॥१५॥

[२७८ तम–पद्यतः परम्]

आर्या ।

आतरलाघवहेतोर्मुरहर ! तरिं तवावलम्बे ।
अपणं पणमिह कुरुषे नाविकपुरुषे न विश्वासः ।।१६॥

कस्यचित् ।

[२८२ तम–पद्यतः परम्]

शार्दूलविक्रीडितम् ।

कोऽयं द्वारि हरिः प्रयाह्युपवनं शाखामृगस्यात्र किं
कृष्णोऽहं दयिते ! बिभेमि सुतरां कृष्णादहं वानरात् ।
कान्तेऽहं मधुसूदनः पिब लतां तां चैव गत्वा वन-
मित्थं निर्वचनीकृतो दयितया ह्रीणो हरिः पातु वः ।।१७।।

कस्यचित् ।

तब श्रीराधिकाजी बोलीं—हे मुरारे ! किराया कम लगेगा इसी कारण से तो मैंने तुम्हारी नौका को स्वीकार किया था, परन्तु तुम तो नौका की न उतराई को ही उतराई के रूप में करना चाहते हो । अतः सज्जनों ने ठीक ही कहा है कि नाविक पुरुष में कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिये ।।१६।।

श्रीराधाकृष्ण की परस्पर उक्ति प्रत्युक्ति—

श्रीराधा बोली—दरवाजे पर कौन है ? श्रीकृष्ण बोले—मैं हूँ, हरिः । श्रीराधा बोली—हरि तो वानर को कहते हैं । यहाँ राजमहलों में वानर का क्या काम ? सीधे चले जाओ उपवन । श्रीकृष्ण बोले—हे प्राणप्रिये श्रीमति राधिके ! मैं हूँ, कृष्ण । तब श्रीराधा बोली—हाय हाय ! काले वानर से तो मैं और विशेष डरती हूँ । श्रीकृष्ण बोले—हे

[२९२ तम-पद्यतः परम्]

शार्दूलविक्रीडितम् ।

सौन्दर्यस्मरकेलिपौरुषरसं गायन्ति काः सुस्वरं
वीणावेणुमृदङ्गतालमहतीं संवादयन्ते च काः ।
राधा नृत्यति दक्षिणे रसवती वामे तु चन्द्रावली
मध्ये श्यामलसुन्दरो रसकलामुद्दीपयंश्चोत्तमः ॥१८॥

[३०० तम-पद्यतः परम्]

आर्या ।

सुरपतिविधिश्रीशानां मनसां वचसामगोचरं ब्रह्म ।
तदपि च गोपसुनगरे राधानुराधाकटाक्षसुकृतम् ॥१९॥

श्रीरघुपत्युपाध्यायस्य ।

कान्ते ! मैं हूँ, मधुसूदन । श्रीराधा बोली—मधुसूदन तो भौंरे को कहते हैं । यहाँ भौंरे का क्या काम ? वन में जाकर उस तला के पुष्परस का पान करो । इस प्रकार प्राणप्यारी राधिकाने शास्त्रार्थ में हराकर जिनको चुप कर दिया, अतः किंचित् लज्जायुक्त वे ही श्रीहरि तुम्हारी रक्षा करें ॥१७॥

अथ रास--

रास के आरम्भ में कुछ गोपियाँ तो सौन्दर्ययुक्त स्मर क्रीड़ा के पौरुष रस को सुस्वर गाय रही हैं, और कोई वीणा, वेणु, मृदङ्ग आदि को ताल लयपूर्वक बजा रही हैं । उस समय श्रीकृष्ण के दाहिनी ओर तो रसवती श्रीमती राधिकाजी नृत्य कर रही हैं, बाँई ओर चन्द्रावली, एवं मध्य में रसिकशेखर श्रीश्यामसुन्दर रसकला को उद्दीप्त करते हुए नृत्य कर रहे हैं ॥१८॥

[३०९ तम-पद्यतः परम्]

आर्या ।

निगमतरोः प्रतिशाखं मृगितं यत्तत् परं ब्रह्म ।
मिलितमिदानीमंके गोकुलपंकेरुहाक्षीणाम् ॥२०॥

हरेर्मथुरागमने कस्याश्चित् सख्या वाक्यम् ।

[३१४ तम-पद्यतः परम्]

मन्दाक्रान्ता ।

क्वायं गन्ता मधुरिपुरसौ गोकुलादस्मदीयः
काले रंस्ये सुखमिति मया हन्त मानोऽभ्यधायि ।
का जानीते कपटरचनाचातुरीदीक्षितेन
प्रक्षेप्तव्यं सरसि कुलिशं गान्दिनीनन्दनेन ? ॥२१॥ श्रीअमरोः ।

श्रीरघुपति उपाध्यायजी कहते हैं कि— इन्द्र, विधि, लक्ष्मी, शंकर प्रभृति देव श्रेष्ठों के मन एवं वाणी के भी अगोचर जो ब्रह्म है, वह ब्रह्म भी गोपों के सुन्दरनगर गोकुल, वृन्दावन, नन्दग्राम, बरसाना आदि में श्रीराधा, विशाखा आदि सखियों के कटाक्ष का पुण्य स्वरूप है, अर्थात् श्रीराधिका आदि व्रजगोपियों का कृपाकटाक्ष यदि किसी भाग्यशाली जीव पर पड़ जाय तो वह ब्रह्म भले ही मिल जाय। व्रजवासियों की कृपादृष्टि के बिना उस ब्रह्म का पाना कठिन है ।।१९।।

मैंने जन्म भर परिश्रमपूर्वक जिस परं ब्रह्म को वेद की प्रत्येक शाखा में ढूँढा, परन्तु सकल निगम प्रतिपाद्य वह परं ब्रह्म इस समय मिला तो व्रजवासियों की कृपा से कमलनयनी गोपियों की गोद में खेलता हुआ मिला ।।२०।।

[३१७ तम-पद्यतः परम्]

वसन्ततिलकम्

आनन्दकन्दमखिलश्रुतिसारमेक-
मध्यात्मदीपमतिदुस्तरमंजनाभम् ।
आकृष्य सान्द्रकुचयोः परिरभ्य कामं
सम्प्राप्य गोपवनिता बत पुण्यपुंजाः ॥२२॥

श्रीवाहिनीपतेः ।

श्रीकृष्ण के मथुरा जाते समय किसी सखी की उक्ति—

एक सखी अपनी प्रिय सखी से कह रही है कि—हे सखि ! बता तो सही, हमारे प्राणप्यारे ये मुरारि गोकुल से (अर्थात् नन्दग्राम से "तदानीं गोकुले वासाभावात्") कल प्रातःकाल कहाँ चले जायेंगे ? हाय सखि ! बड़े खेद की बात तो यह है कि मैं समयानुसार सुखपूर्वक इनके साथ विहार कर लूँगी इसीलिये मैंने मान कर लिया था, परन्तु वह मान तो मेरा व्यर्थ दुःखदायी ही हो गया । इस बात को कौन जानती थी कि कपट रचना की चातुरी में दीक्षित अक्रूरजी द्वारा मथुरा से आकर इस सरस रस भरी सरोवर में वज्र फेंका जायगा ? ।।२१।।

कविवर श्रीवाहिनीपति कहते हैं कि—वे गोपियाँ धन्य एवं पुण्यपुंज स्वरूप हैं, जो कि आनन्दकन्द, समस्त श्रुतियों के एक सारस्वरूप, अत्यन्तदुस्तर अध्यात्म ज्ञान को प्रकाशित करने वाले अंजन तुल्य दिव्य विग्रह सम्पन्न उस परब्रह्म को अपने दोनों हाथों से खैंच कर एवं निबिड़ स्तनों से आलिङ्गन करके अपने अपने अभिलषित को प्राप्त कर प्रसन्न हुईं ।।२२।।

[३१९ तम-पद्यतः परम्]

शार्दूलविक्रीडितम् ।

वस्त्रं वल्कलतां गृहं विपिनतां पुष्पाणि चाङ्गारतां
शीतांशुर्दहतां जलं गरलतां भोज्यं च कीदृक् स्मृतम् ?
शृङ्गारं गुरुतां भृशं च मनुते वेणीं च व्यालोलितां
किं चान्यद्बहु विस्मृतं विरहिता न क्वापि धत्ते रुचिम् ॥२३

श्रीरुद्रस्य ।

[३२२ तम-पद्यतः परम्]

अनुष्टुभ् ।

गोकुलस्य तु या शोभा धन्या मधुपुरे गता ।
अस्माकं हृदयं यत्र गोकुलं व्याकुलायते ॥२४॥ श्रीधन्यस्य ।

श्रीरुद्रकवि कहते हैं कि—विरहयुक्त नारी वस्त्र को वल्कल समझती है, सुन्दर महल को वन के समान मानती है, कोमल कोमल पुष्पों को अंगार से जानती है, शीतल चन्द्रमा को अग्नि के समान जलाने वाला मानती है, जल को गरल समझती है, फिर भोजन उसकी दृष्टि में कैसा है, इसको कौन कहे ? अपना षोड़श प्रकार का शृङ्गार भी भार सा मानती है, सुन्दर वेणी को भी विशेष खुली हुई सी अथवा सर्पिणी के समान दुःखदायी ही मानती है। विशेष क्या कहें ? प्रायः सभी बातों को भूल जाती है, एवं किसी पदार्थ में भी वह अपनी रुचि को नहीं धारण करती ॥२३॥

कोई गोपी दूसरी गोपी से कह रही है कि—हे सखि ! गोकुल की जो धन्यतामयी शोभा थी वह तो आज मधुपुरी में चली गई। हमारा हृदय जहाँ हर्ष धारण करता था वह सारा गोकुल तो आज व्याकुल हो रहा है, अथच ये सम्पूर्ण गैयाओं का कुल भी श्रीकृष्ण विरह में रंभाता डोल रहा है ॥२४॥

[३२३ तम-पद्यतः परम्]

शार्दूलविक्रीडितम् ।

सा भूमिस्तरवस्त एव मरुतस्ता एव गोपाङ्गनाः
सा गोवर्धनमूर्ध्नि कुंजकुटिका ते वै मयूराः खगाः ।
सा वृन्दावनचारुता व्रजगवां सा वै स्थितिर्निश्चला
जानेऽहं व्रजराजपुत्रविरहेणायाति दुःखात्मताम् ॥२५॥

श्रीसञ्जयस्य ।

श्रीकृष्णस्य कलेवरलक्षणं स्मृत्वा गोपीनां वाक्यम् ।

[३३८ तम-पद्यतः परम्]

शिखरिणी ।

मुखं चन्द्राकारं करभनिभमूरुद्वयमिदं
भुजौ स्तम्भारम्भौ कमठकमनीयं पदयुगम् ।
कवाटाभं वक्षस्तलमविरलं श्रोणिफलकं
परिक्षीणो मध्यः स्फुरति मधुहन्तुर्मधुरिमा ॥२६॥ कस्यचित् ।

और देख सखि ! यह वही परम सुहावनी व्रज की भूमि है, वे ही ये कदम्बादिक वृक्ष हैं, शीतल, मन्द, सुगन्ध वे ही श्रीयमुना तीर की वायु हैं, वे ही हम सब गोपियाँ हैं, श्रीगोवर्धन पर्वत के शिखर पर विराजमान कुंज कुटी भी वही है, मयूर, शुक कोकिल प्रभृति वे ही व्रज के मनोहर पक्षी हैं, श्रीवृन्दावन की सुन्दरता भी वही है, व्रज की गैयाओं की निश्चल स्थिति भी वही है, परन्तु मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि श्रीव्रजराजकुमार के विरह से सभी प्रायः दुःखित भाव को प्राप्त हो रहे हैं ॥२५॥

कस्याश्चिद् गोप्या वाक्यम् ।

मन्दाक्रान्ता ।

सर्वाङ्गानां श्रियमनुपमामेकदा नन्दसूनो-
र्द्रष्टुं वांछा प्रियसखि ! न मे हन्त साध्याप्यपूर्णा ।
यस्मिन्नङ्गे नयनयुगली पूर्वमेवानुरक्ता
तस्मिन्नेवाद्भुतरसमये निश्चलासीन्निमग्ना ॥२७॥श्रीतैरभुक्तस्य ॥

श्रीकृष्ण के कलेवर के लक्षणों को याद करके गोपियाँ बोलीं—

अरी सखियो ! देखो, मुरनामक दैत्य को मारने वाले श्रीकृष्ण की मधुरिमा हमारे अन्तःकरण में प्रतिक्षण इस प्रकार स्फुरित होती रहती है कि उनका श्रीमुख शारदीय पूर्णिमा के दिव्य चन्द्रमा के समान है। उनकी दोनों जंघायें ऐरावत हाथी की सूंड़ के समान उतराव चढ़ाव की हैं। दोनों भुजायें भी इन्द्रनीलमणि के स्तम्भों के समान गोल गोल उतराव चढ़ाव की हैं। दोनों चरणकमल भी कछुआ की पीठ के समान बीच से उठे हुए परम मनोहर प्रतीत होते हैं। कपाटयुगल के समान विशाल वक्षःस्थल है, और उनका नितम्ब भाग स्थूल है, एवं मध्यभाग पतला है। हाय सखियो ! उस शोभा का फिर कब साक्षात्कार होगा ? ॥२६॥

कोई गोपी बोली—

हे प्रियसखि ! श्रीनन्दलालजू के सम्पूर्ण अङ्गों की अनुपम शोभा एक साथ देखने के लिये मेरी अभिलाषा तो साध्य भी न हुई और न पूर्ण ही हुई। कारण मेरे दोनों नेत्र जिस अंग में पहले ही अनुरक्त हो गये बस उसी अद्भुत रसमय अङ्ग के सौन्दर्यसागर में निश्चल होकर डूब गये। फिर तू बता सखि ! दूसरे अङ्गों को देखे कौन ? अर्थात् ये

[३५६ तम-पद्यतः परम्]

मालिनी ।

त्वयि चलति मृगाक्ष्या मानसे जीवितेशे
प्रहरति शरजालैर्जीवितं चित्तजन्मा ।
वदति किमुत वामा शेषसंलक्ष्यजीवा
तव मदनविरोधे कां गतिं सा च गन्ता ? ।।२८।।

[३५७ तम-पद्यतः परम्]

शार्दूलविक्रीडितम् ।

दृष्ट्वा चन्द्रमसं नमस्यति मुहुः सूक्तेन भासां निधेः
पाणिस्पृष्टपटीरपङ्कमनिशं वक्त्रानिलैः सेवते ।
श्रुत्वा कोकिलकाकलीं नतमुखी दम्भोलिसंस्तम्भनं
सातंकं बत बंभणीति च कथं वामभ्रुवामाधयः ? ।।२९।।

श्रीआनन्दस्य ।

नेत्र श्रीहरि के जिस अङ्ग का सौन्दर्य निरीक्षण करते हैं बस वे वहीं के वहीं अटके रह जाते हैं। जब वे कृपालु श्रीहरि ही शक्ति प्रदान करें तो भले ही सब अङ्गों की शोभा के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है ।।२७।।

श्रीराधिका की सखी श्रीकृष्ण को सन्देश देती हुई कहती है कि—हे श्रीराधिका के जीवितेश ! आप में मृगनयनी राधिका का मन जब चलता है तभी मनोज अपने शरजालों से इसके जीवन पर प्रहार करता है। आपके विरह में किंचित् शेष जीवन जिसका दीख रहा है, ऐसी यह हमारी सखी यदि कुछ आपके प्रति सन्देश कहती है तो आप और

उद्धवं प्रति हरेर्वाक्यम् ।

[३६८ तम-पद्यतः परम्]

शार्दूलविक्रीडितम् ।

तातः किं कुरुते द्रुतं वद सखे ! किं चेष्टते वा प्रसूः
किंवा बालकदम्बकं वितनुते गावस्तु केनासते ?
पृष्ट्वेत्थं सकलस्य वृत्तमपि यत्प्रेमानुबन्धः पुनः
सा किं जीवति वा न वेति सकलं वक्तुं न शक्तो हरिः ॥३०

इति परिशिष्टं सम्पूर्णम् ।

मदन के विरोध में यह किस गति को प्राप्त होगी इसको कौन किस प्रकार कहे ? अर्थात् आप यदि इसके जीवन की रक्षा चाहते हैं तो शीघ्र ही दर्शन देकर इसे बचालो ॥२८॥

और हे व्रजपते ! तुम्हारी प्यारी श्रीराधिका की विरहमयी दयनीय दशा का तुम से क्या वर्णन करूँ ? वह तो चन्द्रमा को देखते ही सूर्यसूक्त से बारंबार चन्द्र की स्तुति करती है, अर्थात् विरहिणी के लिये पूर्ण चन्द्र भी सूर्य के समान तापप्रद प्रतीत होता है । अतः श्रीराधिकाजी चन्द्रमा को ही सूर्य समझ कर ताप शान्त्यर्थ सूर्यसूक्त से उसकी स्तुति करती हैं । अपने हस्तकमल से छुए हुए चन्दन पंक (कीच) को अग्नि समान समझ कर मुख की फूत्कार वायु से सेवन करती हैं, अर्थात् आपके विरह में शीतल चन्दन भी विपरीत हो रहा है, और कोयल की सूक्ष्म एवं मधुर कूक को सुनकर नीचा मुख करके भयपूर्वक वज्रस्तम्भन स्तोत्र का बारंबार पाठ करती हैं, अर्थात् कोकिल की मधुर वाणी भी आपके विरह में वज्र के समान कर्णकटु प्रतीत होती है तो आप ही

बताइये वनिताओं की विरहावस्था की मानसिक व्यथायें किस प्रकार वर्णन की जा सकती हैं ? ॥२६॥

व्रज से लौटकर आये हुए उद्धव के प्रति श्रीकृष्ण वाक्य—

हे सखे उद्धव ! शीघ्र कहिये हमारे पूज्यपाद पितृदेव श्रीनन्दरायजी क्या कार्य कर रहे हैं, और स्नेहमयी श्रीयशोदाजी क्या कर रही हैं ? हमारे बालगोपाल प्राणप्यारे सखागण कौनसी क्रीड़ा विस्तृत कर रहे हैं, एवं मेरे बिना देखे जो अपने बछड़ाओं को भी दुग्धपान नहीं कराती थीं वे वात्सल्य स्नेहमयी गैयायें किस प्रकार से रहती हैं ? इस प्रकार समस्त व्रजवासियों का कुशल वृत्तान्त पूछकर फिर जिन श्रीमती राधिकाजी के प्रेमानुबन्ध से बँधे हुए श्रीहरि "वह जीवित है या नहीं" श्रीमती राधिकाजी के विषय में इस वाक्य को पूर्णरूपेण उच्चारण करने में भी समर्थ नहीं हुए । यही श्रीहरि की भक्तवश्यता की पराकाष्ठा है ।

टीकामिमां विलोक्यैव पद्यावलिप्रकाशिकाम् ।
सन्तास्तु मुदमेष्यन्ति मातेव बालभाषितैः ॥१॥

व्यतनुत सरसां सतां हि पद्या-
वलिपरिशिष्टपद्येषु चापि टीकाम् ।
हरिपदनिरतो वसंश्च वृन्दा-
वनभुवि श्रीवनमालिदासशास्त्री ॥२॥

इति श्रीमहाकवि-वनमालिदासशास्त्रिकृत-हिन्दीभाषाटीकासहितः
श्रीपद्यावलीपरिशिष्टभागः
सम्पूर्णः ।

सूचना

अभूतपूर्व स्तोत्र ग्रन्थरत्न

श्रीस्तवकल्पद्रुमः (संस्कृतमें)—परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य्य श्रीमद्भक्तिसारङ्ग गोस्वामी महाराज तथा श्रीपुरुषोत्तमदास संगृहीत। आकार २० × ३० सोलहपेजी, बढ़िया कागज, पृष्ठ संख्या ८३६, मूल्य ७) मात्र। डाकखर्च १।=), पुस्तक प्राप्ति के पते पृष्ठ नं० (२) पर देखिये।

यह ग्रन्थ परम चमत्कारपूर्ण सुन्दर स्तोत्रों का भण्डार है। जिसमें श्रीगौराङ्गमहाप्रभु एवं उनके परिकर, श्रीकृष्ण, श्रीराधा, श्रीराधाकृष्ण, श्रीवृन्दावन, श्रीयमुना इत्यादि के माहात्म्य सूचक बहुत से स्तोत्रों एक ही साथ में संकलित कर दिये गये हैं।

इस ग्रन्थ में वेद-भागवत-पुराण-तंत्र-संहिता-चंपू-इतिहास-बिरुद-तापनी-काव्य-नाटक-पंचरात्र-सन्दर्भ प्रभृति ११४ ग्रन्थों (इनमें बहुत से ग्रन्थ अभी दुष्प्राप्य हैं) का मन्थन करके चुने हुए स्तोत्र संगृहीत किये गये हैं। इसका एक और वैशिष्ट्य यह है कि इसमें १६ ग्रन्थ संपूर्ण रूप से प्रकाशित किये गये हैं, यथा—स्तवमाला, स्तवावली, स्तवामृतलहरी, चैतन्यचरितामृत में वर्णित लीलाओं के अनुसार श्रीगौराङ्गमहाप्रभु के सहस्रनामस्तोत्र, चैतन्यचन्द्रामृत, ब्रह्मसंहिता (गोविन्दस्तोत्र), कृष्णकर्णामृत, कृष्णलीलास्तव, श्रीमद्भागवतीयश्रीकृष्णस्तोत्रों, मुकुन्दमालास्तोत्र, स्तोत्ररत्न, तथा श्रीगौराङ्ग-गोपाल-गोविन्द-कृष्ण-निकुञ्जकेलि बिरुदावली।

इस ग्रन्थ में श्रीजयदेव गोस्वामी, श्रीबिल्वमङ्गल ठाकुर, श्रीरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी, श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती, श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य, श्रीकविकर्णपूर, श्रीकृष्णदास कविराज, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती, श्रीभक्तिविनोद ठाकुर प्रभृति पचासों सर्वजनविदित महाजनों द्वारा रचित रसाल स्तोत्रों सन्निविष्ट हुए हैं।

आशा है कि स्तोत्रों के प्रेमी पाठक पाठिकाएँ इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की उपादेयता समझकर शीघ्र ही इससे लाभ लेंगे। यह ग्रन्थ अत्यन्त ही श्रेष्ठ और हृत्कर्णरसायन होने के कारण अवश्य संग्रहणीय है।